

आमुख

यह वाकया अस्सी के दशक की एकदम शुरुआत का है, जब मैं कुछ ऐसे साथियों की तलाश में इधर-उधर निगाह दौड़ा रहा था जो एक स्वतंत्र और खुला फोरम बनाने की मेरी योजना का हमख्याल तो हो ही, मेरे कंधे से कंधा मिलाकर भी काम कर सकें। दरअसल, मैं आपातकाल के बाद जनता प्रयोग की नाकामी और इंदिरा गाँधी की सत्ता में वापसी के माहौल में एक ऐसा फोरम बनाने के बारे में सोच रहा था जिसके जरिए समाज वैज्ञानिकों और जनता के बीच काम करने वाले गैर-दलीय राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं का आपसी संवाद कायम हो सके, और जिसके साथ नीति-निर्माता भी जुड़ सकें। इसी खोज के दौरान सीएसडीएस में मेरी मुलाकात विजय प्रताप से हुई। वे इमरजेंसी में जेल काट चुके थे और रेडिकल चिंतन से ओतप्रोत थे। विजय से बात करते ही मेरी समझ में आ गया कि उनके साथ मिलकर काम किया जा सकता है। मुझे लगा कि उनका बौद्धिक व्यक्तित्व लोकतंत्र को उत्तरोत्तर जनोन्मुख बनाने की प्रक्रियाओं में गहरी दिलचस्पी रखता है, और संस्थाओं के महत्त्व में यकीन करने के साथ-साथ उनमें मुक्त चिंतन की प्रवृत्तियाँ भी हैं। इस तरह विजय प्रताप मेरे अभिन्न साथी बन गए। वे 'लोकायन' की स्थापना से ही

उसके साथ जुड़े और उनके महत्त्वपूर्ण और सक्रिय योगदान से कार्यकर्ताओं, समाज वैज्ञानिकों और नीति-निर्माताओं के बीच आपसी संवाद स्थापित करने वाला यह असाधारण उद्यम करीब दस साल तक चला। मैं समझता हूँ कि अपनी प्रकृति में 'लोकायन' का यह प्रयोग वर्ल्ड सोशल फोरम के आधारभूत विचार के बहुत नजदीक था। यही कारण है कि आज डब्ल्यूएसएफ का जिक्र और उसके साथ मिलकर काम करना मुझे और विजय प्रताप दोनों को ही कोई नया काम जैसा नहीं लगता। एक तरह से हमलोग 'लोकायन' के ही उस अनुभव का विस्तार डब्ल्यूएसएफ में देख रहे हैं। ध्यान रहे कि डब्ल्यूएसएफ के लिए काम करते हुए विजय प्रताप 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की जिस संकल्पना को संस्थागत रूप देने में लगे हैं, वह भी प्रति-भूमंडलीकरण की लगातार चल रही प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग है।

कहना न होगा कि प्रति-भूमंडलीकरण और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की राजनीति के केंद्र में सहभागी लोकतंत्र की अवधारणा है। दरअसल, दुनिया भर में लोकतंत्र का भविष्य लोकतंत्र में सच्ची सहभागिता के विकास पर ही आधारित है। समस्या यह है कि लोकतंत्र का समकालीन सिद्धांत जन-गोलबंदी और सीधी कार्रवाई सरीखी आंदोलनकारी राजनीति को प्रतिनिधित्वमूलक सरकार की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने का मौका नहीं देना चाहता। इसके लिए वह राजनीतिक सहभागिता को नागरिकता के वैधानिक-संवैधानिक अधिकारों के रूप में परिभाषित करता है। इसके कारण सहभागिता चुनाव में हिस्सा लेने, पार्टियों और दबाव समूहों के जरिए हित-साधन तक ही सीमित रह जाती है। नतीजे के तौर पर लोकतांत्रिक व्यवस्था की संस्थागत मजबूती तो सुनिश्चित हो जाती है, पर लोकतांत्रिक विचार लोकतंत्र की उदारतावादी किस्मों से आगे नहीं जा पाता। यह रवैया नये और विकसित होते हुए लोकतंत्रों को नए-नए संस्थागत प्रयोग करने से भी रोकता है। लोकतंत्र के विचार को सैद्धांतिक तौर पर सीमित कर देने का यह आग्रह इतना जड़ जमा चुका है कि ज्यादातर लोग उदारतावादी लोकतंत्र से आगे-पीछे कुछ सोचना ही नहीं चाहते। वे समझते हैं कि उदारतावादी लोकतंत्र के रूप में मानवता

ने अपना सर्वश्रेष्ठ शासनकारी रूप प्राप्त कर लिया है। इसी प्रवृत्ति के वैचारिक असर के कारण सहभागिता लोकतंत्र का एक वांछनीय पहलू तो मानी जाती है, पर अनिवार्य नहीं। तर्क दिया जाता है कि सहभागी लोकतंत्र या तो शासन का प्राचीन रूप है या फिर अव्यावहारिक रूप है जिसका प्रयोग करने से खुद लोकतंत्र ही खतरे में पड़ जाएगा। एथेंस के प्राचीन लोकतंत्र का उदाहरण देकर समझाया जाता है कि किस तरह कदम-ब-कदम रैखिक प्रगति करते हुए वह प्रत्यक्ष एवं सहभागी लोकतंत्र आधुनिक प्रतिनिधित्वमूलक लोकतंत्र में विकसित हुआ है। इस प्रकार यह प्रमाणित करने की कोशिश की जाती है कि एथेंस के शहर-राज्य के लिए जो ठीक था, वह जरूरी नहीं कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य के लिए ठीक हो।

लोकतंत्र के भारतीय सिद्धांतकारों ने इसी पश्चिमी तर्ज पर ऐसी कोई कोशिश वर्जित करार दे दी है जो भारतीय अतीत के आधार पर सहभागी लोकतंत्र का कोई वैकल्पिक रूप खोजने में दिलचस्पी रखती हो। सहभागी लोकतंत्र के खिलाफ एक दलील यह है कि आधुनिक जमाने में समस्याएँ और मुद्दे इतने जटिल हैं कि साधारण नागरिक तो छोड़ ही दीजिए, चुने हुए प्रतिनिधि भी उनसे नहीं निपट सकते, इसलिए आधुनिक सरकारों को हमेशा विशेषज्ञों की जरूरत पड़ती रहती है। इसलिए सहभागी लोकतंत्र की बात करने की कोई सैद्धांतिक तुक नहीं दिखती। 'डेमोक्रेसी' की जगह 'मैरिटोक्रेसी' में यकीन रखने वाले भारतीय अभिजन का एक हिस्सा तो यह माँग करता है कि तेजी से भूमंडलीकृत होती हुई दुनिया में चुने हुए प्रतिनिधियों के अधिकारों को कार्यविधिक और संरचनागत रूप से नौकरशाही और न्यायपालिका के जरिए और भी सीमित कर दिया जाना चाहिए। ये लोग मानते हैं कि सहभागी लोकतंत्र के विचार को ज्यादा तरजीह दी गई तो इससे प्रतिनिधित्वमूलक लोकतंत्र की संस्थाओं पर बहुसंख्यकवादी दबाव और बढ़ेगा। इसी मान्यता के प्रभाव के कारण आजादी के बाद के दशकों में अंग्रेजी शिक्षित, शहरी और ऊँची जाति के मुट्ठी-भर लोग सरकार और निर्णयकारी प्रक्रिया पर हावी हो गए थे, हालाँकि उनका प्रभुत्व

लोकतांत्रिक मान्यता की आड़ में अपना काम करता था। इस वर्चस्व को सत्तर के दशक में चुनौती मिलनी शुरू हुई जब छोटी जातियों और गरीबों ने चुनावी राजनीति और नागरिक समाज की जमीन पर अपने दावे पेश करने शुरू किए।

भारत में सहभागी लोकतंत्र की जड़ें गाँधी के राजनीतिक चिंतन और व्यवहार में मिलती हैं। गाँधी इसे स्वराज, स्वदेशी और ग्राम-स्वराज की शब्दावली में व्यक्त करते थे। वे कहते थे कि यही भारत की लोकतांत्रिक परंपरा है। आजादी के बाद इन सूत्रों को गाँधी का अब्यावहारिक आदर्शवाद कहकर पूरी तरह से ठुकरा दिया गया। लेकिन कुछ जमीनी कार्यकर्ता गाँधी-विचार का सहारा लेकर इस दिए की लौ को जलाए रहे। 1959 में गैर-पार्टी लोकतंत्र पर अपना प्रबंध प्रकाशित करके जयप्रकाश नारायण ने हाशिए पर पड़े इस विचार को वाणी दी। जेपी को दलीय प्रणाली के अध्येताओं ने आदर्शवादी करार दिया पर दो साल बाद वे अपने आलोचकों को जवाब देने वाली व्याख्या के साथ सामने आए और दावा किया कि भारत को ऐसे व्यापक लोकतंत्र की आवश्यकता है, जिसमें आर्थिक-राजनीतिक सत्ता सीधे जनता के हाथ में रहे। 1947 में जेपी के नेतृत्व में चले संपूर्ण क्रांति आंदोलन के आधार में उनके यही विचार थे।

जरूरत इस बात की है कि शीत युद्ध के बाद हावी हुए उदारतावादी विमर्श को उलटकर एक अधिक खुले जनोन्मुख लोकतंत्र के विमर्श की स्थापना की जाए, जिसमें विचारधारात्मक और संरचनागत रूप से भूमंडलीय चौधराहट की जगह निर्णयकारी प्रक्रियाएँ जनता के हाथों में देने का प्रावधान हो। इस विमर्श से राजनीति की नई प्रक्रियाओं की संभावनाओं का संधान हो सकता है, समाज में सत्ता की स्तंभीय संरचनाओं का क्षैतिज प्रसार हो सकता है और लोकतंत्र की जड़ें राजनीतिक, सामाजिक और सांगठनिक रूप से आम लोगों के संगठनों से जुड़ सकती हैं। यह सिलसिला लोकतंत्र के विविध रूपों को जन्म दे सकती है, ऐसे रूप जिनकी सांस्कृतिक सारवस्तु एक ही होगी और जिनके कारण लोकतंत्र सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से एक

सृजनशील प्रक्रिया के रूप में उभरेगा।

मेरी मान्यता है कि वर्ल्ड सोशल फोरम की प्रक्रिया यही संभावना साकार करने की गुंजाइशें निकालती है। इसलिए इस प्रक्रिया को मजबूत करना और उसका विस्तार करना आवश्यक है। इस प्रक्रिया के कारण एक बहुलतावादी और अधिक जीवंत दुनिया बनाने के लिए अभूतपूर्व राजनीतिक ऊर्जा और आशा का संचार हुआ है। भूमंडलीकरण की ताकतें हमारे ऊपर जिस तरह की ग्लोबल गवर्नेंस लादना चाहती हैं, उसके मुकाबले यह प्रक्रिया ग्लोबल गवर्नेंस का एक भिन्न मॉडल विकसित कर सकती है। यह मॉडल हर स्तर पर लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया चलाने में यकीन रखते हुए आपस में क्षैतिज रूप से जुड़ी हुई बहुस्तरीय गवर्नेंस के आधार पर चलेगा। गवर्नेंस का ऊपरी स्तर निचले स्तर से अपनी वैधता और सत्ता प्राप्त करते हुए लोकतांत्रिक तरीके से काम करेगा। मेरे विचार से उत्तर-दक्षिण सत्यता आयोग और टोबिन टैक्स लगाने जैसी पहलकदमियाँ एक लोकतांत्रिक किस्म की ग्लोबल गवर्नेंस की ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

मुझे यकीन है कि विजय प्रताप के विचारों की यह प्रस्तुति पाठकों के सामने फोरम प्रक्रिया के भारतीय अनुभव और भारतीय परिप्रेक्ष्य की रोशनी में डब्ल्यूएसएफ की तस्वीर दिखाएगी कि किस तरह भारतीय संदर्भों में यह प्रक्रिया उम्मीदों से धड़कती हुई एक नई राजनीति की स्थापना की तरफ बढ़ रही है।

—धीरुभाई शेठ

इंडिया से भारत की ओर

एकध्रुवीयता नहीं, बहुलता और विविधता

कोई भी आयोजन जब एक बड़ी घटना बन जाए, या एक शृंखला की तरह चल निकले तो, उसका श्रेय किसी एक व्यक्ति, किसी एक संगठन या किसी एक विचारधारा को नहीं दिया जा सकता। जिस ढंग से चौथे वर्ल्ड सोशल फोरम का आयोजन मुंबई में 16 से 21 जनवरी, 2004 तक चला, उससे साफ है कि यह सिर्फ एक मेला नहीं था, यह एक प्रक्रिया थी जिसकी शिनाख्त सिर्फ बौद्धिक ढंग से करना मुश्किल है। फोरम प्रक्रिया की शुरुवात से पहले मेरे मित्र अभय कुमार दुबे ने कहा था कि *भारत* में सरकार जो भी हो, उसके प्रधानमंत्री, गृहमंत्री और उपप्रधानमंत्री कोई भी हो जाएँ, होना उसे उदारीकरण के पक्ष में ही होगा। लेकिन अब मैं कह सकता हूँ कि फोरम प्रक्रिया ने दुनिया भर में ऐसा माहौल बना दिया है कि ऐसा होना हमारे देश का प्रारब्ध नहीं रह गया है। जितनी आसानी से राजग सरकार ने दत्तोपंत टेंगडी को चुप कराया और जितनी आसानी से इस सरकार ने उस सम्पादक को बदल दिया जिसने 'स्वदेशी' पत्रिका में अटल बिहारी के वे भाषण छापे थे जो उन्होंने आई.एम.एफ. और वर्ल्ड बैंक के खिलाफ दिये थे, मेरा विचार है कि इतनी आसानी अब मुमकिन नहीं होगी।

उसका प्रतिरोध अब तक हुए प्रतिरोध से कई गुना ज्यादा और अभूतपूर्व होगा। एक लाख सामान्य लोगों की भागीदारी वाले इस आयोजन का संदेश यह है कि भारतीय समाज की सुप्त धारा बहुत सशक्त है। भारत विकल्पहीन नहीं है। सारी दुनिया में यह एहसास व्यापक हो रहा है। मुंबई फोरम में देश और दुनिया से करीब चार हजार पत्रकार, दस-पन्द्रह हजार समाजशास्त्री आए। साहित्यकार अशोक वाजपेयी ने 'जनसत्ता' में इस पर जो लिखा वह बहुत अच्छे भाव में था और सामान्यतः हर पत्रकार की प्रतिक्रिया यही रही है। पोर्टो अलेग्रे में आयोजित 2002 के दूसरे वर्ल्ड सोशल फोरम में प्रभाष जोशी पहली बार गए थे, और उन्होंने वापस आकर न सिर्फ चार लेख लिखे, बल्कि सक्रिय रूप से हम कार्यकर्ताओं को इस बात के लिए प्रेरित करने में लग गए कि हमें हिन्दुस्तान में यह आयोजन करना चाहिए।

कार्यकर्ता और संगठन के नाते मेरी जो कसौटियाँ हैं, उनके हिसाब से जिन लोगों ने ऐसा आश्वासन अपने हाव-भाव से दिया, उनमें प्रभाषजी सबसे आगे थे। मेरा राजनीतिक निष्कर्ष यह है कि मुंबई फोरम के जरिए भारत की भूमि से यह घोषणा की गई है कि पूरी दुनिया में ऐसा मानने वाले लोगों की संख्या कम होती जा रही है जो यह मानते हों कि भूमंडलीकरण का कोई विकल्प नहीं है। दूसरी राजनीतिक घोषणा जो मुंबई में बहुत स्पष्ट सुनाई दी कि एकध्रुवीय विश्व बर्दाश्त नहीं किया जाएगा यानी अमेरिका की दादागीरी नहीं चलेगी। तीसरी बात यह थी कि हम भारतवासी जैसे भी हैं, हमें अपनी बहुलता, अपनी विविधता, अपनी अलग-अलग पहचान अपने सांस्कृतिक मुहावरे, अपनी भाषा, अपनी वेष-भूषा, अपनी संस्कृति, अपने नाच-गाने पर सहज गौरव है। यह गौरव 'गर्व से कहो हिन्दू हैं' वाली शैली में नहीं, बल्कि भारतीय होने के एक सहज आत्मविश्वास वाले भाव में है। भारतीयों की तरह तीसरी दुनिया से जो अन्य कार्यकर्ता आये थे उनमें भी यही आत्मविश्वास और गौरव था।

इंडिया नहीं भारत!

मुंबई फोरम में भारत और इंडिया का अंतर बहुत स्पष्ट था। मैं पूरी

ईमानदारी से मानता हूँ कि आयोजन में जो मेहनत भारत ने की थी, भारत के लोगों के कष्ट सहने की जो क्षमता थी, उसके बगैर यह आयोजन हो नहीं सकता था। हजारों की संख्या में आदिवासी पहुँचे। दलित पहुँचे, किसान पहुँचे। तीन-चार दिन तक किसान चौपाल चली। आदिवासी लगातार पूरे डब्ल्यूएसएफ में प्राण फूँकते रहे। भारत की विविधता और जीवन्तता वहाँ एक साथ उपस्थित थी। गरीब लोग जो रात में बहुत कष्ट झेलते थे और जिनके लिए हम शौचालयों की व्यवस्था नहीं कर पाए थे, वे ही वहाँ के मुख्य तेवर और जान थे। और हम थे इंडिया वाले, जिन्होंने विषय तय किये थे। इन विषयों को देखकर लगता था कि जैसे बेहतर दुनिया बनाने के लिए चर्चा करने के बजाय एमफिल करने के लिए विषयों की शिनाख्त की गई हो। इन विषयों पर गुजरे हुए जमाने की लेकिन, आज भी सक्रिय विचार धाराओं का गहरा असर दिखाई पड़ता था। इन विषयों पर चर्चाओं के लिए 100 लोगों का हॉल बनाया था, 500 का बनाया था, 800 का बनाया था 1000 का भी बनाया था, 4000 का हॉल भी बनाया था और 20,000 का भी बनाया था। उद्घाटन के अलावा इन सभी चर्चाओं में मुझे कोई खास जान नहीं लगी। समापन तो और भी उदास था। आयोजन समिति इंडिया की थी, लेकिन वर्ल्ड सोशल फोरम का जो मेला था वह भारत का था। इंडिया के लोग तो रिसर्च इंस्टीट्यूट में होते हैं, अखबार में होते हैं। अखबार वालों को कोई स्पॉन्सर कर देता है, रिसर्च इंस्टीट्यूट अपना प्रोजेक्ट लिख देते हैं। कुछ गैर-सरकारी संगठन वाले होते हैं, कुछ मध्यमवर्गीय होते हैं। वे अपनी बीवी की तनख्वाह से या इधर-उधर से पैसा लेकर फोरम में आने की व्यवस्था करते हैं। उन्हें कोई खास कष्ट नहीं होता। हम लोग राजधानी से, हवाई जहाज से, पश्चिम एक्सप्रेस से, स्लीपर क्लास से आराम से गए थे। और, भारत के लोग बड़े जलसे में जैसे जाते हैं, हजारों की संख्या में झंडा लेकर जेल जाने के जोखिम के साथ, गाड़ियों में सवार होकर आए। उन्हें किसी ने स्पॉन्सर नहीं किया था। इन तमाम कार्यकर्ताओं के दिल में भारत धड़क रहा था। इसलिए यह बात वहाँ साफ तौर पर परिलक्षित हुई कि भारत अभी जिंदा है। भारत इतनी आसानी से मरने

वाला नहीं है। सत्ता प्रतिष्ठान यह सोचता हो कि पूरे हिन्दुस्तान में उसी का राज्य चलता है, और वह मोम की गुड़िया की तरह भारत को इंडिया में बदल देगा तो यह उनकी गलतफहमी है। वे लोग चुनाव जीत सकते हैं, मंत्री बन सकते हैं लेकिन वे भारत को इंडिया नहीं बना पाएँगे। मुंबई गए तमाम लोगों को यह स्वप्रमाणित सी बात लग रही थी।

लकीर की फकीरी नहीं, बेहतर दुनिया का संकल्प!

राजनीतिक रूप से मेरा जन्म 1968 में समाजवादी युवजन सभा में हुआ। समाजवादी शब्द में 'समाज' मुख्य है और 'वाद' अंत में है। लेकिन मैं ईमानदारी से यह बात कबूल करना चाहता हूँ कि हम समाजवादी समाज को मुख्य दर्जा नहीं देते। मेरा ख्याल था कि समाजवादी समाज को, समाज के प्रवाहों को, समाज की ताकत को मुख्य मानते हैं। लेकिन 1975 से 1977 के बीच बिहार और फिर जयपुर

वर्ल्ड सोशल फोरम और फंडिंग का सवाल : उनका पैसा, हमारा परिवर्तन

वर्ल्ड सोशल फोरम की संगठन संस्कृति के बारे में आम तौर पर आलोचना की जाती है कि उसमें अंतर्राष्ट्रीय पैसा बहुत आ रहा है। फोरम से पहले मैं किसी अंतर्राष्ट्रीय आयोजन में शामिल नहीं रहा। मैं इसकी वित्तीय कमेटी में भी नहीं हूँ। मैं इतना तो साफ कर ही सकता हूँ कि फोरम में होने वाले ज्यादातर कार्यक्रम स्व-आयोजित किस्म के होते हैं। विभिन्न संगठन, संस्थाएँ, आन्दोलन, ट्रेड यूनियनें, किसान संगठन आदि 80-90 फीसदी कार्यक्रम अपने-पैसे, अपने साधन से करते हैं। मेरी जानकारी में कोई केंद्रीय निधि पैसा नहीं देती। 50 रुपए रजिस्ट्रेशन के लगते हैं। इस तरह से पूरे देश में जो खर्च हुआ, उसका एक अनुमान लगाया गया कि इतना वर्ल्ड सोशल फोरम की कमेटी खुद जमा करेगी या खर्च करेगी या फिर संगठन खुद जमा करेंगे। दाता एजेंसियों का एक नियम होता है कि अगर

के जेल-जीवन में मुझे यह बात समझ में आई कि जितनी भी संगठित विचारधाराएँ हैं, वह चाहे सर्वोदय हो, चाहे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हो, चाहे समाजवादी हो (कम्युनिस्टों की बात मैं इसलिए नहीं कहता, क्योंकि वे तो घोषित रूप से मानते हैं कि अंतिम सत्य उनके ही पास है), चाहे अन्य धाराएँ हों, वे ऊपरी तौर पर तो समाज की बात करते हैं, (सुना है गुरु गोलवलकर ने कहा था कि जब तीन प्रतिशत स्वयंसेवक हो जाएँ तब संघ को भंग कर देना चाहिए और समाज पर छोड़ देना चाहिए) गुरुजी ने जो भी कहा हो, लेकिन संघ हो या सर्वोदय हो या हम समाजवादी लोग हों, अपनी विचारधारा और अपने संगठन को समाज से बड़ा मानते हैं। टिटिहरी की तरह आसमान गिर न जाए, इसकी रक्षा में लगे रहते हैं। फोरम के दौरान यह बात साबित हुई कि अगर समाज बदलेगा और उठ खड़ा होगा तो अलग-अलग जातियों, वर्गों, धर्मों, सम्प्रदायों में से लोग निकलेंगे और लोहिया की भाषा में कहें तो एक समलक्ष्य और संबोध की स्थिति समाज में पैदा

वे दस रुपए देते हैं तो काम करने वाले को 90 या 80 रुपए अपने यहाँ से जुटाने होते हैं। फोरम के अंतर्राष्ट्रीय सचिवालय (जिसमें ब्राजील के आठ संगठन शामिल हैं) ने यह विचार किया और अब उसे सलाह देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय परिषद बनी है। भारत में हम लोगों की खिल्ली उड़ायी गई है, क्योंकि जब फोरम ब्राजील में प्रारम्भ हुआ जो फोर्ड नामक दाता एजेन्सी ने काफी बड़े पैमाने पर पैसा दिया और कहा कि हमारी कोई शर्त नहीं है। आप अपनी समझ से अपना आयोजन करें। लेकिन जब पहले एशिया का और फिर दुनिया का सोशल फोरम करने का फैसला किया तो आन्दोलन समूहों ने तमाम दाता एजेन्सियों पर सवाल उठाया। सिद्धान्ततः एशिया सोशल फोरम में फैसला किया गया कि जिन एजेन्सियों की छवि साम्राज्यवाद विरोधी है उन सबसे हम पैसा लेंगे, लेकिन फोर्ड से हम पैसा नहीं लेंगे। पिछली बार हम लोगों ने यह अनौपचारिक निर्णय लिया था और अंत तक निभाया। हमने फोर्ड फाउण्डेशन से एशिया सोशल फोरम के लिए कोई पैसा नहीं लिया। तमाम आन्दोलनों ने, विशेष रूप से फोर्ड का नाम लेकर, करोड़ों रुपए लेने का

होगी। तब इन पार्टियों, संगठनों और संगठित विचारधाराओं को एक ठोस भूमिका में आना होगा। मुझे याद है कि बिहार आंदोलन के प्रति हम लोगों का जो मातृ संगठन था, वह बहुत उत्साहित नहीं था। पर जब जनता आ गई, तो समाजवादी शामिल हो गए। उसके बाद संघ को भी आना पड़ा। इसलिये संगठित विचारधाराओं और संगठनों के लिए यह एक राजनीतिक संदेश है कि पिछली सदी में उस समय की समझ के अनुसार गढ़ी गई विचारधारा के आधार पर अगर आप आज भी लीक पीटते रहेंगे और कहेंगे कि कुछ हो नहीं सकता, और सब बिखर गया है, सब बेईमान हो गए हैं, तो यह उचित नहीं माना जा सकता है।

थकना आदमी की एक स्वाभाविक वृत्ति है। मेरी समझ से हमारी जितनी विचारधाराएँ हैं, वे मर गई हैं और इन विचारधाराओं को अभी जनता और समाज की ऊर्जा के पुनर्नवीनीकरण में कोई रुचि नहीं है।

विरोध किया। यह बात चूँकि तथ्यगत नहीं थी, इसलिए कमेटी ने नाम लेकर कहा कि हम फोर्ड का पैसा नहीं लेंगे।

मेरी राय में फोर्ड के प्रति यह अन्याय है, क्योंकि किसी जानकारी के आधार पर हम लोगों ने यह फैसला नहीं लिया कि हम फोर्ड से पैसा नहीं लेंगे। यह एक गंभीर मुद्दा है। इस पर सिलसिलेवार विचार होना चाहिए कि फोर्ड जैसी दाता एजेंसियाँ क्या-क्या षडयंत्र करती हैं। अगर कोष एक्शन एड से लिया जाए या टाटा के देशी ट्रस्ट से लिया जाए या भारत सरकार से लिया जाए या अगर विजय प्रताप कल को बड़ा उद्योगपति हो जाए तो उससे लिया जाए, तो उससे जो विकृति आयेगी वह फोर्ड से कैसे अलग होगी? अगर बाकयदा बहस करने के बाद फैसला लिया जाता कि फोर्ड से पैसा नहीं लेना है, तो ज्यादा अच्छा लगता। लेकिन, कुछ मित्रों ने जो माहौल बनाया उसके दबाव में बहुत उत्साह से यह फैसला लिया गया कि हम फोर्ड से पैसा नहीं लेंगे। जिन साथियों को यह जानकारी न हो कि हम कैसे पैसा लेते हैं, क्या करते हैं, उन्हें यह बताया जाना चाहिए। पैसे से जुड़ी आखिरी बात यह है कि जिसे भी लगता हो कि उनके कार्यकर्ताओं

वे राजनीति में नीति शब्द भूल गई हैं। चाहे कांग्रेस हो, चाहे भाजपा हो या दोनों के खूंटों के आसपास के लोग हों, वे नीति की बात और समाज की बात भूल गए हैं। इसमें संघ को एक दम छोड़ देना होगा। डब्ल्यूएसएफ ने यह तय किया था कि राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (राजग) से जुड़ी पार्टियों और धाराओं को इस प्रक्रिया में शामिल नहीं किया जाएगा, क्योंकि भूमंडलीकरण के बाद साम्प्रदायिकता को भारतीय संदर्भ में एक मुख्य मुद्दा माना गया था। हैदराबाद में हुए एशियन सोशल फोरम से पहले किसी को भी यकीन नहीं हुआ था कि इसमें 15,000 लोग आ जाएँगे। जिन्हें यह मालूम था कि उन्हीं को इससे ज्यादा ताकत मिलेगी, उनके वैचारिक दावे और उनके एजेंडे को ही ताकत मिलेगी, वे भी शामिल नहीं हुए। मैं भी एक विचारधारा वाले संगठन से जुड़ा हुआ हूँ और आज भी अपनी समाजवादी पहचान को ही मुख्य राजनीतिक पहचान मानता हूँ। इस नाते मुझे अफसोस है कि

और उनके संगठन को यह व्यवस्था अपने में समेट लेगी, उनकी क्रांतिकारी पहचान खत्म हो जाएगी; उनके लिए यह रास्ता खुला है कि वे अपनी समझ से वर्ल्ड सोशल फोरम में कार्यक्रम करें। जैसा मैंने कहा कि सैकड़ों कार्यक्रम और सैकड़ों कार्यशालाएँ रोज होंगी। बस उद्घाटन और समापन के दो दिनों को छोड़कर। इसके अलावा रोज 2-5 बजे के बीच की जो कार्यशालाएँ होंगी, वे भी संगठनों को ही अपने दम पर करनी है। अपने संगठन, अपने मंच, अपने ट्रेड यूनियन, अपना दलित, अपना किसान, अपना आदिवासी अपना महिला संगठन, अपना अल्पसंख्यक संगठन, पर्यावरण का संगठन, बाढ़ बचाने का संगठन, पेड़ लगाने का संगठन; जो भी आप की समझ है, बेहतर दुनिया बनाने के लिए, जो काम आप कर रहे हैं, जिस अनुभव पर आप बात करना चाहते हैं, सपने की जो राजनीति आप बनाना चाहते हैं, उस पर इन कार्यक्रमों में बात करें, अपने पैसे से काम करें। अपना वक्ता लायें, अपना परचा छापें, अपना बिल्ला छापें। आप दरी पर बैठकर बात करें या आप अच्छी जगह बुकिंग कराएँ। उस बुकिंग का पैसा आप से नहीं लिया जाएगा। यह जो बड़ा खर्च हो रहा है,

मैं सर्वोदय और सर्व सेवा संघ की बैठकों में तीन-तीन बार गया, लेकिन कोई खास नतीजा नहीं निकला। सोशलिस्ट फ्रंट, जिसके सचिवालय का मैं इन्चार्ज था, उसके तमाम मित्रों से, गाँधी के नाम पर चल रही संस्थाओं के प्रमुखों से, कई बार मिला। विस्तार से बात की और अकेले नहीं, बल्कि कम्युनिस्टों को भी साथ लेकर गया ताकि उनको यह न लगे कि मैं कोई व्यक्तिगत रिश्ते के आधार पर वहाँ की प्रक्रियाओं में सहयोग चाह रहा हूँ। लेकिन, हुआ क्या? एक समाजवादी मित्र ने तो 600 लोगों को पत्र भेजा दिया कि मैं दो तरह के अपराध कर रहा हूँ। संघ से संवाद करने का और समाजवाद को गैर सरकारी संगठनों से जोड़ने का। मेरे अन्य समाजवादी मित्रों ने इसका जबाब नहीं दिया। समाजवादी तो बहुत लिक्खाड़ होते हैं। सब अखबार उन्हें छापते हैं। पर किसी मित्र ने अपनी पत्रिका में भी उसका जवाब नहीं छापा। कुल मिला कर मेरा कहना है कि संगठित धाराओं को यह बिल्कुल एहसास नहीं था कि भारतीय समाज में ऐसी तैयारी

उसमें एक वजह यह भी है कि छोटे संगठनों के शामिल हो सकने की व्यवस्था की गई है। हैदराबाद के समय हमने रजिस्ट्रेशन के लिए पैसे लिये थे। वर्ल्ड सोशल फोरम में रजिस्ट्रेशन का पैसा भी नहीं लिया गया। चूँकि परिवर्तनवादी लोगों को एक बिरादरी माना गया है, इसलिए अपेक्षा यह है कि जो लोग रजिस्ट्रेशन कराएँ वो कुछ न कुछ पैसा दें तो अच्छा होगा, नहीं देंगे तो भी रजिस्ट्रेशन होगा। आपके संगठन की धन जुटाने की जो संस्कृति है, उसके अनुरूप, अपनी विचारधारा के अनुरूप अपने वक्ता अपने भागीदार वहाँ बुलायें और अपनी बात कहें और औरों की सुनें।

फोर्ड से हिन्दुस्तान की कमेटी ने सीधे या परोक्ष पैसा नहीं लिया। प्रस्ताव आया था कि फोर्ड का पैसा ब्राजीलियन कमेटी को दे दिया जाय। ब्राजीलियन कमेटी अंतर्राष्ट्रीय सचिवालय चाहती है और अंतर्राष्ट्रीय सचिवालय यानी ब्राजीलियन कमेटी ही हमारे मेहमानों का मुम्बई (भारत) आने-जाने का खर्च दे दे। अगर सौ, डेढ़ सौ लोग आएँगे पूरी दुनिया से तो उनकी टिकटों का खर्च करोड़, डेढ़ करोड़ होगा। रहने-खाने और बड़े कार्यक्रम तथा बड़े पैनल के वक्ताओं के

है।

मेरा अगला राजनीतिक निष्कर्ष है कि गाँधीवादी समाजवाद या देशज विकास का मॉडल हमें इस तरह से विकसित करना होगा कि उसमें समता भी रहे, समाज का खुलापन भी रहे और उसकी विविधता भी रहे। हम लोग अमेरिकी या बहुराष्ट्रीय निगमों के उपभोक्ता भर न हो जाएँ, नागरिक और इंसान के तौर पर भी जिंदा रहें। समाज बनाने के लिए हमें अपनी बहुत सी बुनियादी धारणाओं को माँजना होगा। विकास के बारे में, आदमी-औरत के रिश्ते के बारे में, परिवार और परिवार का जो रिश्ता है, समुदाय का राजनीति से जो रिश्ता है, समुदाय का राजनीतिक सत्ता से जो रिश्ता है, विभिन्न समुदायों के आपस में जो रिश्ते हैं, इन मुद्दों पर बुनियादी तौर पर सोचना होगा। दुनिया के नागरिक के नाते और भारतीय के नाते, इस कालखण्ड में हमारा युगधर्म क्या है? इस सवाल पर जो एक सहज समझ होनी

अलावा मेहमानों को कोई पैसा दिया नहीं जाता। इस पर हिन्दुस्तान की कमेटी ने फैसला किया और ब्राजीलियन कमेटी के प्रति हमारा भी सम्मान बढ़ा, क्योंकि उन्होंने भी कहा कि हम ये घुमा-फिरा कर करने का तरीका नहीं मानेंगे कि आप लेना नहीं चाहते और अंतर्राष्ट्रीय मेहमान हमारे जरिए बुलवाएँ। आप बुला सकते हैं तो बुलाइये, नहीं बुला सकते, तो न बुलाइये। तो, परोक्ष ढंग से भी फोर्ड का पैसा हमने नहीं लिया है।

इबासे एक शोध संस्थान है जो आठ संगठनों ब्राजील में डब्ल्यू.एस.एफ. की कमेटी की सदस्य है। वह फोर्ड से पैसा लेता है। उसके केन्डीडो ब्रिजवेंसी, जिनकी डब्ल्यू.एस.एफ. में प्रमुख भूमिका रही है, का कहना है कि अगर फोर्ड ने हमें वह स्वतंत्रता न दी होती तो हमलोग यह आयोजन कर ही न पाते। इसी तरह फोर्ड से पैसा लेने वाले किसी संगठन (जैसे नेशनल कैम्पेन अगेन्स्ट दलित ह्यूमन राइट) पर बहस हुई तो मित्रों ने कहा कि एक्शन ऐड जैसे तमाम संगठनों से हमें पैसा मिला है। एशियन सोशल फोरम के जब गठन से ही आप एक्शन ऐड से पैसे ले रहे हैं, और ग्लोबल एक्शन एक तो संकोच कर

चाहिए, उस समझ की अभिव्यक्ति के रूप में इस चित्र को देखा जाना चाहिए। यद्यपि यह समझ *इंडिया* की चमक-दमक और सत्ता प्रतिष्ठानों पर उसके संपूर्ण कब्जे की वजह से वहाँ भी नहीं दिख पा रही थी, लेकिन इसका अच्छा जबाब *भारत* की जनता की तरफ से आया। सेमिनार और हॉल में होने वाली चर्चाएँ कमजोर थी। उपस्थिति भी कम थी। जीवंतता भी कम थी। जाने पहचाने लोग थे। आप पहले से बता सकते थे कि कौन क्या बोलेगा लेकिन बाहर गली में जो हो रहा था, उसके बारे में अनुमान लगाना कठिन था।

यह जानना दिलचस्प होगा कि डब्ल्यूएसएफ भारत में हो, मैं पहले दिन से इसके खिलाफ था। क्योंकि, मैं *इंडिया* को कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। डब्ल्यूएसएफ के आयोजन की जान और दिशा तो *भारत* ने तय की लेकिन डब्ल्यूएसएफ हुआ इसलिए कि *इंडिया* ने तय किया। पूरे आयोजन के लिए पैसा जुटा पाना, उसके लिए ई-मेल से संवाद

रही थी हमें पैसा देने में। जब हमने दलित सवालियों पर काम किया तो फोर्ड ने संकोच नहीं किया। तो आप किस कसौटी के आधार पर एक्शन ऐड से ले रहे हैं, लेकिन फोर्ड से नहीं ले रहे हैं।

वर्ल्ड सोशल फोरम में काम करते-करते फंडिंग के बारे में मेरी एक समझ बनी है। मैं कुछ इस तरह सोचता हूँ कि जो संगठित दाता एजेन्सियाँ हैं उनका यूरोप पर क्या असर होता है; अमेरिका पर क्या असर होता है, वहाँ के परिवर्तनवादी संघर्षों पर क्या असर होता है और हमारे यहाँ क्या असर होता है? सोचना यह है कि जो लोग फंडिंग नहीं लेते रहे हैं, वे अगर वर्ल्ड सोशल फोरम के कारण फंडिंग पर निर्भर हो गए तो उनकी क्रान्तिकारिता या उनकी प्रभावशीलता है क्या किसी तरह की सीमा बँध जाएगी? यह उनकी मर्जी है कि वे अपनी सीमा बनाना चाहते हैं तो फंडिंग लें, नहीं बनाना चाहते हैं तो चाहे कम काम करें, सीमित काम करें, कम जगहों पर दिखें, कम झण्डे और कम बैनर हों, उनका बैनर सिल्क की जगह खादी का हो, तो कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरी निजी राय यह है कि जो लोग अब तक फंडिंग नहीं लेते रहे हैं वे फंडिंग न लें तो अच्छा होगा। फंडिंग न लेने

भेजना, उसके लिए कार्यकारिणी की मीटिंगें हर महीने हो पाना, ये सब अगर इंडिया के लोग शामिल नहीं होते तो नहीं हो पाता। दो साल के अनुभव से मुझे यह बात समझ में आई कि भारत में उस तरह के कौशल के लोग या तो नहीं हैं या उनकी इस तरह की अंतर्राष्ट्रीयतावाद में रुचि नहीं है। इस आयोजन से एक और राजनीतिक निष्कर्ष निकला कि हमें अगर अपनी कोई भी विचारधारा गढ़नी है, तो हाशिये और मुख्यधारा का फर्क भूलना होगा। आज के भाजपा नेता अरुण जेटली और मैं इमरजेंसी में जेल की एक ही कोठरी में थे, तब वे कहते थे कि देश के लिए जान देने से कम अगर कुछ भी कुर्बानी करनी पड़े तो मेरी उसके लिए तैयारी है। मुझे नहीं लगता कि उस जुबान को वे भूले होंगे, फिर भी आज भूमंडलीकरण के वे सक्रिय पैरोकार हैं। इसका अर्थ यह है कि वे सच नहीं पकड़ पा रहे हैं। भारत का सच ही हमारे बहुसंख्यक लोगों का सच है। 'स्वदेशी' पत्रिका ने लिखा कि छोटा सा

के बावजूद फंडिंग वालों के साथ काम करने से जो सवाल उठेंगे, जो विषमताएँ दिखेंगी, उन पर एक रचनात्मक ढंग से वर्ल्ड सोशल फोरम के बाद अगर हम लोग आपस में बहस करेंगे तो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय फंडिंग के सवाल, इंटरनेशनल सॉलिडरिटी और एकता के सवाल, आन्दोलनों के लिए पैसा कैसे आए, कार्यकर्ता की देखभाल समाज कैसे करे, इन सवालों पर रचनात्मक ढंग से खुली और ईमानदार बहस की जा सकेगी। अभी इस बहस को एक चाबुक की तरह पाखंडी तरीके से एक दूसरे के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। ऐसे तमाम संगठनों को मैं जानता हूँ जिन्होंने बहुत आक्रामक ढंग से फोर्ड का विरोध किया, लेकिन उनके संगठन, और उनके महत्वपूर्ण लोगों द्वारा चलाये जा रहे संगठन फोर्ड का पैसा लेते हैं। हर राज्य में ईमानदारी से इन चीजों पर बहस करनी चाहिए। समाज के सामने उस बहस को लेकर जाना चाहिए कि आखिर जो पूर्णकालिक कार्यकर्ता हैं, जो आन्दोलन नेतृत्व पैदा करता है, उसे ईमानदार रखने की जिम्मेदारी इस समाज की है कि नहीं। उसके लिए आर्थिक साधन हम कैसे जुटाएँगे? वर्ल्ड सोशल फोरम के बहाने इसे एक सवाल

इंडिया राष्ट्रद्रोह की सीमा तक जाकर उदारीकरण लागू कर रहा है। भारत की शक्तियाँ आज शायद इसलिए भी बिखरी हैं कि वे अंतर्मुखी होकर एक नयी उड़ान की तैयारी कर रहीं हैं। उस उड़ान में भारतीय समाज और मानवीय समाज को कम से कम खामियाजा उठाना पड़े, इसलिए वे मंथन कर रही हैं कि इस उदारीकरण की हकीकत पर अपना पलट वार कैसे किया जाए। वह मंथन इंडिया की पकड़ में नहीं आ रहा है, और इंडिया ने भारत में जो प्रदूषण पैदा किया है, उस बारे में हमें सोचने की जरूरत है।

हमारी व्यक्तिगत मोक्ष की धारणा सामाजिक कर्म में भी इस एहसास के साथ रूपांतरित होती है कि मुझे समय को बदल देना है और मुझ पर सच कहने की जिम्मेदारी है। मैं इतना भर कहना चाहता हूँ कि दो-चार-पाँच बरस ज्यादा अवधि नहीं होती। अगर हम अपनी स्वयंभू असाधारणता भूल सकें, अपनी विशिष्टता भूल सकें, अगुआ

हम तभी बना सकेंगे जब हम इस तैयारी के क्रम में स्वयंसेवी संस्थाओं पर अपनी निर्भरता बढ़ा न लें। अगर मदद लेते भी हैं तो खुले दिलो-दिमाग से लें, और पाखण्डी तरीके से न लें, चुपके-चुपके न लें।

यूरोप की कई सरकारें पैसा देती हैं। एक तो यह समझ लेना चाहिए कि जो पैसा हम यहाँ खर्च कर रहे हैं, वह भी इसी समाज का पैसा है और कहीं बाहर से नहीं आ रहा है। इसका अधिकांश हिस्सा भारत में ही जमा किया गया है। जैसे, मेरी ही मिसाल ली जा सकती है। पिछले कई वर्षों से मैं गोलबंदी का जो काम कर रहा हूँ उसके लिए वर्ल्ड सोशल फोरम ने मुझे कोई पैसा नहीं दिया है। मैं जिस शोध संस्थान में नौकरी करता हूँ, अपनी पगार में से, अपने प्रोजेक्ट में से, उस पैसे को अपने दोस्तों के पैसे से, अपने श्वसुर से चंदा लेकर, अपने दोस्तों से कर्ज लेकर, चला रहा हूँ। मेरा कहना है कि यूरोप से आया अधिकांश पैसा या तो यूरोप के परिवर्तनवादियों का है या फिर वहाँ के वैसे आम लोगों, नर्स, हजाम, आदि है। एक्शन ऐड ने एक समय सर्वे करवाया था। उनका 80 फीसदी पैसा

कतार वाले अपने-अपने आग्रह खूँटी पर टांग दें और यह तय करें कि हमें यह दुनिया बदलनी है, तो बहुत कुछ हो सकता है। आज दलित के हिसाब से, पिछड़े के हिसाब से लोकतंत्र की कसौटी के हिसाब से, यदि देखा जाए, तो आनुपातिक दृष्टि से इतने बड़े पैमाने पर इतनी बड़ी संख्या में कभी लोगों ने यह सपना नहीं देखा कि वे भी देश और समाज चलाने के नियामक हो सकते हैं। यह एहसास ही अपने आप में निर्णायक रूप से क्रांति है। इस प्रक्रिया से दलित पिछड़े और आदिवासी को जो मुक्ति मिली, उनकी जो प्रतिष्ठा स्थापित हुई, वह लोकतांत्रिक क्रांति भी इसमें शामिल है। लेकिन हर अच्छी बात का दूसरा पहलू भी होता है। जरूरत यह है कि एक नया सपना गढ़ने के लिए अपनी आत्मकेंद्रीयता और आत्ममुग्धता से कुछ हद तक मुक्त होकर अपनी सामाजिकता परिभाषित करें। गाँधी दरिद्र नारायण की बात करते थे। उसका अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि हम उनके लिए

निम्न-मध्यम वर्ग लोगों से आता था। वहाँ की सरकारें भी टैक्स से इकट्ठा करके और फिर अपने गैर-सरकारी संगठन के फेडरेशन को देती हैं। जिस तरह हमारे यहाँ शिक्षा में स्वायत्तता बनी रहे, इसलिए इंडियन हिस्टोरिकल काउंसिल, इंडियन सोशल साइंस कॉन्सिल, इकॉनॉमिक रिसर्च कॉन्सिल, विश्व विद्यालय अनुदान आयोग बनाये गये। उनमें पैसा सरकार का है। ये सरकारी विभाग न होते हुए भी सरकार आश्रित हैं। उसी तरह से यूरोप के क्रान्तिकारी दिखने वाले गैर-सरकारी संगठन भी अपने पैसे के लिए अपने करदाता पर आश्रित हैं, क्योंकि उन्होंने अपने राजतंत्र को हमसे ज्यादा लोकतांत्रिक बनाया है। जो लोग सरकार का विरोध भी करते हैं, जिन्हें सरकार हमारी तरह दीवाना और पागल मानती है, उन्हें भी कई तरह से, किसी को बेरोजगारी भत्ते के नाम पर, किसी को किसी और तरह व्यवस्था से ही पैसा मिलता है। जैसे अपने यहाँ आन्दोलन के दीवाने हैं, और अपनी पार्टी में पूरा समय देते हुए पार्टी से नहीं लेते, मित्रों से लेते हैं, वैसे वहाँ भी ऐसे गैर-सरकारी संगठन हैं जो अपनी सरकार से पैसा नहीं लेते हैं। लेकिन ऐसे गैर-सरकारी संगठन अपवाद के

कुर्बानी करें, उनके लिए मुक्ति का मार्ग खोजें, उनके लिए मुक्तिदायक चिंतन का खाका बनायें। उसके बजाए वह खुद अपने जीवन को बेहतर कैसे बनाना चाहते हैं, उसमें सहायक की भूमिका निभाई जा सकती है। डब्ल्यूएसएफ में ऐसे अनेक संगठन और अनेक लोग हैं जिन्होंने इस बात की परवाह नहीं की कि उनका भाषण हुआ या नहीं, वे इतिहास में दर्ज हो रहे हैं या नहीं!

भारत बनाम इंडिया नहीं, इंडिया की आपसी लड़ाई!

मैं अक्सर कहता हूँ कि व्यक्तिवाद आज युग-व्याधि जैसा है। इस युग-व्याधि ने यदि हमें संपूर्ण रूप से ग्रस लिया होता तो डब्ल्यूएसएफ असंभव था। डब्ल्यूएसएफ की आयोजन कमेटी ने जिस तरह से काम किया, उस तरह से करना तो संभव ही नहीं था। मैं कह चुका हूँ कि पुरानी विचारधाराएँ विकल्पहीनता के दायरे में जकड़ी हैं, क्योंकि उनके आसपास के लोग थक गए हैं और नई पीढ़ी और नए सपने से उनका

तौर पर हैं। नियम यही है कि वहाँ के गैर-सरकारी संगठन वहाँ के करदाता से पैसा लेते हैं। यूरोप के हर देश में नहीं, पर नॉर्डिक कंट्रीज में अधिकांश देशों की पार्टियों को पैसा मिलता है। जर्मनी में मिलता है। मुझे बहुत ज्यादा तो नहीं पर कुछ देशों की पक्की जानकारी है कि वहाँ मिलता है।

लेकिन, मेरे कहने से यह समझ कतई नहीं बननी चाहिए कि चूँकि वह लोगों के टैक्स का पैसा है, इसलिए उसके दुष्परिणाम नहीं होंगे। जो पैसा जिस सांस्कृतिक, राजनीतिक परिवेश से आता है उसका असर वैसा होता ही है। अपने यहाँ कहावत है जैसा खाओगे अन्न, वैसा होगा मन। इसका बहुत गहरा समाजशास्त्रीय अर्थ है। यह कोई अंधविश्वास से उपजी हुई कहावत नहीं है। वहाँ भीतरी समाज में कितना भी लोकतंत्र हो, लेकिन व्यापार की विषमता है। व्यापार की शर्तों के बावजूद नॉर्डिक देशों में जिस तरह से समता और लोकतंत्र जिन्दा रखा गया है, वह मानव समाज की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

वहाँ सब लोग बना बनाया खाना डिपार्टमेंटल स्टोर का खाते हैं। जो खाना बासी हो गया हो, वह बेचा नहीं जा सकता, कूड़ेदान में

कोई सरोकार नहीं है। इसलिए संघी हों, या समाजवादी, या सर्वोदयी, उन्हें लगता है कि कुछ हो नहीं सकता। सब गड़बड़ हो रहा है। नई पीढ़ी भी गड़बड़ है। लेकिन इस बात की आज नहीं तो जब भी संभव हो थोड़ी तफसील से जाँच होनी चाहिए कि हमारी विचारधाराओं की क्या हालत है। विचारधारा के स्तर पर डब्ल्यूएसएफ की प्रक्रिया नया सोचने का सिर्फ एक अमूर्त दबाव ही पैदा नहीं करती, बल्कि ठोस मुद्दे सामने रखती है।

कार्यक्रमों की सूची के विषयों का अगर वैचारिक विश्लेषण किया जाए तो इंडिया कैसे सोच रहा है, इस बारे में एक अवधारणा सामने आ सकती है। लेकिन, भारत ने वहाँ आकर जो बयान दिया, उसका अगर विश्लेषण करें और उसे किसी धारा में किसी स्तर पर बाँधने की कोशिश करें तो उस पर गाँधीवादी समाजवाद या मार्क्सवादी इकोलॉजिस्ट के अलावा कोई दूसरा बिल्ला चरपाँ करना मुश्किल है।

डाल दिया जाता है। ऐसे कार्यकर्ता समूह भी हैं जो कूड़ेदान से खाना निकालकर खाते हैं। उसके कूड़ेदान और हमारे कूड़ेदान में फर्क होता है। उन्हें मालूम है कि कौन सा स्टोर कब खाना फेंकेगा। वे निकाल कर ले जाते हैं। लेकिन, मैं फिर दोहरा रहा हूँ। यह अपवाद है। कुल जमा बात ये है कि अगर फिनलैंड, स्वीडन या किसी भी देश का विदेश मंत्रालय अपने गैर-सरकारी संगठन को पैसा देता है तो उसमें सबसे प्रामाणिक आदमी भी वह हमारे यहाँ की पेचीदगियाँ नहीं समझता। वह 'बचपन बचाओ आन्दोलन' के नाम पर हमें पैसा देता है, और हम अपनी कालीन की फ़ैक्टरी बंद करवाते हैं और जर्मनी के कालीन वाले को फायदा पहुँचाते हैं। यह अनजाने में होता है। मैं यह नहीं कह रहा कि 'बचपन बचाओ' वाले या 'बंधुआ मुक्ति' वाले किसी के एजेंट हैं। लेकिन श्रम नियमों के बारे में अमेरिका की ट्रेड यूनियनों को बहुत चिंता होती है। जबकि व्यापार की असमान शर्तों से कैसे हमें नुकसान हो रहा है, इसके बारे में न वह श्रमिक जानता है, न समझता है, न आन्दोलन करता है। इसलिए जो पैसा वहाँ से आता है, उससे हमारी वरीयताएँ बिना षड्यंत्र किये भी जाने-अनजाने प्रभावित होती

यह कहा गया है कि वर्ल्ड सोशल फोरम पर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) का नियंत्रण था, पर यह बात सही नहीं है। माकपा ने समाज में इसे फैलाने के लिए कोई कोशिश नहीं की। सीटू के दिसम्बर सम्मेलन में उसके अध्यक्ष ने जो भाषण दिया, उससे यह बात सामने आ गई है। हमारे एशिया सोशल फोरम में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मंच से एम.पी. परमेश्वरन ने भविष्य के समाजवाद पर एक लेख पढ़ा। उसमें कहा गया था कि पहली दुनिया, जो पूँजीवादी दुनिया है, उससे तो संघर्ष करना ही है। दूसरी दुनिया, जो स्टालिन और लेनिन के सपनों से पैदा हुई थी, वैसा समाजवाद भी अब संभव नहीं है। हम इस तीसरी दुनिया में हैं। इसी तीसरी दुनिया को चौथी दुनिया में बदलना होगा जिसमें गाँधी ही एक मुख्य खूँटा है। परमेश्वरन की इस फोर्थ वर्ल्ड थीसिस के अनुसार नई दुनिया चौथी दुनिया होगी और इन तीनों दुनियाओं की भुखमरी, गरीबी, शोषण और विषमता से अलग होगी।

हैं। तो इसलिए जितना कम होगा बाहरी पैसे का अनुपात, उतनी इस मिट्टी की गंध, इस मिट्टी की संघर्षशील ताकतों की गंध, वर्ल्ड सोशल फोरम में होगी। आज इसका जो अंतर्राष्ट्रीय पक्ष है उसमें बड़ा हिस्सा यूरोप का पैसा है, यूरोप के आम लोगों का पैसा है, यूरोप के करदाता का पैसा है और यही यहाँ के परिवर्तनवादियों के लिए चुनौती है कि क्या सिर्फ राम मंदिर बनाने के नाम पर, सिर्फ विश्व हिन्दू परिषद के नाम पर, सिर्फ सेवा भारती के नाम पर, सिर्फ बनवासी कल्याण के नाम पर देश और दुनिया में पैसा इकट्ठा होगा और अपनी शर्तों पर खर्च होगा या परिवर्तनवादी ताकतें भी अपनी कोई साझी पहचान बनाएँगी और इस मिट्टी से और इस धरती माँ से अपना पैसा जमा करेंगी और अपनी शर्तों पर खर्च करेंगी?

पहली दुनिया के पूँजीवादी रूप से भी अलग होगी, और दूसरी दुनिया ने जो कोशिशें की थी उन कोशिशों से भी वह अलग होगी।

सीटू के अध्यक्ष महोदय नें इस थीसिस के खिलाफ बहुत विस्तार से भाषण दिया। जाहिर है कि वर्ल्ड सोशल फोरम का अगर कुछ असर पड़ा है तो वह इसी ओर ले जाएगा। इसे न तो सर्वोदयी चाहते हैं, न समाजवादी चाहते हैं, न कम्युनिस्ट चाहते हैं। कारण अलग-अलग हैं। सर्वोदयी इसलिए नहीं चाहते कि गाँधी की बात हो तो मुहर उन्हीं की होनी चाहिए। सिद्धराजजी 95 वर्ष की उम्र में जिस तरह से राजनीतिक रूप से सचेत रहे, और जिस तरह से लोगों को प्रेरित करते रहे, उसके लिए तो मेरे मन में गुरु से बढ़ कर सम्मान है। लेकिन, एक वैचारिक समझ के लिए साफ-साफ यह कहना पड़ेगा कि गाँधी के नाम पर अगर समाज को जोड़ना है तो समाजवादी हों, या सर्वोदयी हों, या कम्युनिस्ट हों, तीनों के स्थापित नेतृत्व का सिक्का नहीं चलने वाला।

डब्ल्यूएसएफ से यह बात जाहिर हुई कि संगठित विचारधाराएँ कालबाह्य हो गई हैं। उनकी जो वैधता बची हुई है, उसका भी लगभग दुरुपयोग ही हो रहा है। यह समाज नई आवाज सुनने न पाए, नए ढंग से अपने को परिभाषित न करे, इसके लिए शूद्रत्व के स्तर पर भी, और ब्राह्मणत्व के स्तर पर भी, ये लोग अपनी पूरी ताकत झोंके हुए हैं। इसलिए आप कहीं भी यह पढ़ें कि इस पर माकपा का वर्चस्व था, तो मुझे लगता है कि यह अतिसरलीकृत और सत्य से परे बात होगी। भारत पर कोई अपना प्रभुत्व नहीं जमा सकता। इंडिया वाले भारत पर



अपना बोलबाला नहीं थोप सकते। भारत की उनको कोई समझ नहीं है। इसलिए यह इंडिया की आपसी लड़ाई का मामला है कि मंच पर कौन कितनी बार आया। इसका भारत से और डब्ल्यूएसएफ की आत्मा से कोई लेना-देना नहीं है।

असहमतियों के बावजूद, साझा हस्तक्षेप!

हमारे कई मित्रों ने हम लोगों को पाप से बचाने के लिए 'मुम्बई रेजिस्टेंस फोरम' का एक अलग मेला भी किया। इसकी अगुवाई गठित माओवादी और मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों के एक अंतर्राष्ट्रीय मंच ने की। उसमें भी पर्याप्त संख्या में गैर-सरकारी संगठन थे। शुरू में तो लग रहा था कि यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी समूहों ने ही किया है, लेकिन बाद में उसमें गैर-सरकारी संगठनों और गैर-सरकारी संगठन के जरिए पैसा धुलवा कर कोष जुटाने वाले, नई राजनीति और स्वराज बनाने वाले शामिल दिखे। उनकी आलोचना में गैर-जानकारी, दुराग्रह

ब्राज़ील और भारत : कुछ एहसास, कुछ सवाल

ब्राज़ील के पोर्टो अलेगरे शहर में हुए पहले वर्ल्ड सोशल फोरम को याद करने का एक तरीका यह भी है कि उसे एक ऐसी नई राजनीतिक संस्कृति के तौर पर याद किया जाए जिसकी कई बातें भारत में प्रचलित परिवर्तनकारी राजनीति की संस्कृति से अलग किस्म की हैं। ब्राज़ील में वर्ल्ड सोशल फोरम की इंटरनेशनल कौंसिल के सदस्यों से बात करके मुझे लगा कि अगर भारत और ब्राज़ील के आंदोलनकारी समूहों में सतत संबंध और संवाद स्थापित हो सके तो ऐसा बहुत कुछ है जो हमारी प्रगतिकांक्षी राजनीति उनसे सीख सकती है।

भारत और ब्राज़ील के इस फर्क को समझने के लिए जरूरी है कि हम लातीनी अमेरिका के सबसे बड़े देश में उपजे देशज वामपंथ को थोड़ा समझ लें। वहाँ की वर्कर्स पार्टी (पीटी) हमारे यहाँ की किसी

और ढोंग का जो तत्त्व है, इसके बारे में अंदाजा लगाया जा सकता है। उनका पैसा कहाँ से आया? वे अपनी रोजमर्रा की राजनीति और संगठन कैसे चलाते हैं? उनके बारे में अगर तफसील से जान लें, तो हमारे ऊपर उठी उनकी एक ऊँगली के उलट उन्हीं की ओर उनकी ही तीन उँगलियाँ उठ जाएँगी। मुम्बई रजिस्ट्रेंस से जो आरोपपत्र डब्ल्यू.एस.एफ. के खिलाफ जारी किये गए हैं, उससे अंदाज मिलेगा कि दलों में आपसी झगड़े होने पर ये ही चीजें सामने आती हैं। डब्ल्यू.एस.एफ. की दृष्टि से देखें तो यह माना जा सकता है कि इन संगठनों द्वारा ऐसा आयोजन करना ही अपने-आप में डब्ल्यू.एस.एफ. की सफलता दर्शाता है।

व्यक्तिगत स्तर पर गरीबी में रहने की, घर परिवार को दिक्कत में रखने की और अपनी जिंदगी जोखिम में डालने वाले लोगों की संख्या मुम्बई रजिस्ट्रेंस फोरम में आनुपातिक दृष्टि से ज्यादा थी। जो भारत

भी वामपंथी या कम्युनिस्ट पार्टी से भिन्न तरह की राजनीति संरचना है। 1964 से 1984 के बीच ब्राज़ील पर हावी रही आर्थिक-राजनीतिक तानाशाही के खिलाफ हुए बहुतेरे संघर्षों के गर्भ से जन्मी यह पार्टी खासी बहुलतावादी किस्म की है। अपने देश में घटकवाद को नीची निगाह से देखने का रवैया है, पर वर्कर्स पार्टी के लिए यह एक विधेयक यथार्थ है। विभिन्न रवैये और विभिन्न प्रवृत्तियाँ इस पार्टी में बाकायदा रहती हैं और अपनी राजनीति चलाती हैं। उन्हे पार्टी के भीतर औपचारिक मान्यता प्राप्त है। आपसी बहस कमजोरी की प्रतीक नहीं मानी जाती। खास बात यह है कि सोशलिस्ट इंटरनेशनल का अंग होते हुए भी इस पार्टी में यूरो-केंद्रीयता के दुर्गुण नहीं हैं। सोशलिस्ट इंटरनेशनल में तो अब नव-उदारतावादी रूझान साफ देखे जा सकते हैं। यूरोप की डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट पार्टियों में भूमण्डलीकरण-विरोध आटे में नमक के अनुपात में ही है। गरीब की बात और कल्याणकारी राज्य की चिंता अब उनकी एक गौड़ विशेषता ही रह गई है। यूरोप की इन पार्टियों के मुकाबले वर्कर्स पार्टी अपने स्वभाव में एक क्रांतिकारी और लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टी है।

है उसमें तरह-तरह के लोग हैं। आदर्शवादी भी हैं, भ्रष्ट भी हैं, डरपोक भी हैं, सामान्यजन भी हैं। गृहस्थधर्म को सबसे बड़ा धर्म समझने वाले तमाम लोग वर्ल्ड सोशल फोरम में आए थे और यही उसकी ताकत थी। सामान्य-सहज जिंदगी जीते हुए ये वे लोग हैं जो दुनिया बदलने का सपना भी पालते हैं। जबकि मुम्बई रजिस्ट्रेंस फोरम में शायद शत-प्रतिशत ऐसे लोग थे, जो पूरी दुनिया को बदल ही देना चाहते हैं। समाज के लिए अपने आप को कुर्बान कर देने की उनकी क्षमता आनुपातिक हिसाब से ज्यादा थी।

बहरहाल आज तक किसी भी सामान्य अंतर्राष्ट्रीय आयोजन में हुए खर्च से आनुपातिक तौर पर वर्ल्ड सोशल फोरम सबसे सादा, भारत के यथार्थ के सबसे करीब था। गरीब लोगों की भागीदारी वाला इतना बड़ा आयोजन इस विश्व में न पहले कभी नहीं हुआ। सादगी और लोकआधारित पैसे के बल पर इतना बड़ा आयोजन सफल होना साध

इसी संरचना लोक-भागीदारी से संपन्न है। ब्राज़ील के आदिवासी समाज की भी इसमें काफी भागदारी-है, पर संभवतः उतनी नहीं कि वहाँ के देशज निवासियों के सभी सपने और सांस्कृतिक आकांक्षाएँ पूरी तरह उसमें प्रतिबिम्बित हो सकें। कम से कम मेरे ऊपर पहली नजर में ऐसा ही असर पड़ा। हो सकता है कि ज्यादा गहराई में जाने पर मेरी यह धारणा बदल सके। मैं यह बात इस आधार पर कह रहा हूँ कि तानाशाही के बीस सालों में ब्राज़ील में हुए परिवर्तनों के दौरान उन लोगो की तकदीर मिटा दी गई जो गाँव और जंगल पर निर्भर थे। आज सत्तर फीसदी लोग शहरों में हैं, और तीस फीसदी उसी पुरानी स्थिति में हैं। ब्राज़ील में वर्कर्स पार्टी जैसे संगठन हों, और वहाँ के राजनीतिक-सांस्कृतिक माहौल में इस हौलनाक तब्दीली पर एक डरावना सन्नाटा हो तो यह बात हमें पचनी नहीं चाहिए। एक सामाजिक कार्यकर्ता के तौर पर हमें इस बात की जाँच करनी चाहिए कि हमारे देश में भले ही तानाशाही न हो, पर लोकतंत्र के तहत ही ऐसे परिवर्तन अंजाम दिए जा रहे हैं जिनसे भारत को इंडिया की शर्तों पर जीने के लिए मजबूर किया जा सके। क्या अपने यहाँ वर्ल्ड

कारण बात नहीं थी। इसका मतलब यह नहीं कि गैरसरकारी संगठनों ने पैसा नहीं खर्च किया, *इंडिया* की भूमिका नहीं थी। मैंने पहले भी कहा है कि *इंडिया* के बगैर यह नहीं हो सकता था। डब्ल्यूएसएफ के खुलेपन व साझेपन की वजह से उसकी मजबूरी थी कि वहाँ काला पैसा आ ही नहीं सकता था। ढोंग की मात्रा ज्यादा थी। वहाँ काला पैसा आ सकता है। हमको कोई फर्क नहीं पड़ता कि गैरसरकारी संगठन दें और फिर किसी और के नाम पर लेकर लॉण्ड्री करके ले लें। हमारे यहाँ माकपा/भाकपा की इसमें दिलचस्पी थी। उनका मानना था कि पैसा दिया जाए तो दलों के नाम पर, और यही दो बड़े दल थे। इसलिए काला पैसा हमारे यहाँ आ नहीं सकता था। गैरसरकारी संगठन का ज्यादा पैसा नार्डिक देशों की दाता एजेंसियों से आया। स्वीडन की पारदर्शिता का स्तर यह है कि प्रधानमंत्री के कार्यालय में जाकर उनकी बेवसाइट पर, अगर व्यक्तिगत

सोशल फोरम करते समय हम ब्राज़ील की तरह इस प्रश्न पर मौन रख सकते हैं?

पहले वर्ल्ड सोशल फोरम को देख कर एक और सवाल मेरे दिमाग में ब्राज़िली समाज में हुए समरूपीकरण के बारे में उठा। मैं। सोचने लगा कि क्या वहाँ यूरोपीय समाज विज्ञान का मुहावरा काम कर रहा है? क्या ऐसा तो नहीं है कि इस भीतरी समरूपीकरण के कारण ही वहाँ एक पार्टी के भीतर इतनी बहुलता को इजाजत देना आसान हो गया हो, जबकि भारत में ऐसा करना मुमकिन नहीं है? यह शक मुझे उस समय और भी हुआ जब मैंने लिबरेशन थियोलॉजी पर लिखा गया एक पर्चा पढ़ा। ब्राज़ील में लिबरेशन थियोलॉजी से जुड़े नेता बहुत लोकप्रिय हैं। वहाँ की राजनीति में इस रुझान के लिए खासी जगह है। डब्ल्यूएसएफ में जितने ओटोग्राफ नोम चोम्स्की के लिए जा रहे थे, उससे ज्यादा ओटोग्राफ लेने वालों ने ईसाई धर्मशास्त्रियों को घेर रखा था। लेकिन, जब मैंने वहाँ के दो बड़े लिबरेशन थियोलॉजिन का संयुक्त पर्चा पढ़ा तो मुझे यह देख कर ताज्जुब हुआ कि वह बहुत ही सामान्य और अति-सरलीकृत किस्म का था। मुझे तो उसमें न

न लिखा हो, तो कोई भी उनकी डाक देख सकता है। वहाँ पूरे कार्यकर्ता समाज को पता रहता है कि किसने कितना प्रोजेक्ट लिया। मैं चुनौती के साथ कह सकता हूँ कि इसमें गैरसरकारी संगठन का पैसा जरूर था, लेकिन आनुपातिक दृष्टि से किसी भी अंतर्राष्ट्रीय आयोजन में जितने खर्चे होते हैं उनके हिसाब से यह बहुत सादगी वाला आयोजन था। मैं वित्तीय समिति में नहीं था, लेकिन मेरी जानकारी और समझ है कि इससे ज्यादा लोकभागीदारी सादगी और इससे ज्यादा पारदर्शिता वाला कोई अंतर्राष्ट्रीय आयोजन न हुआ है और न अगले दस वर्षों में होने वाला है। अगर सभी लोग मेहनत करें और 2008 के अक्टूबर में अगर हिंदुस्तान में इसे किया जा सके, और इस बार का वर्ल्ड सोशल फोरम *इंडिया* के बजाय *भारत* की सदारत में हो, तो क्या कहना। इसके रास्ते की जो बाधाएँ हैं, जिसकी वजह से यह *भारत* के पाले में नहीं था, और *इंडिया* की पहल पर हुआ उस

थियालॉजी लगी, न ही आज के जमाने का रेडिकलिज्म। हमारे यहाँ एमए का सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजन का ट्यूटोरियल भी उससे अच्छा और परिष्कृत होता है।

एक नई बात जो मैंने ब्राज़ील में देखी कि वे लोग हर गंभीर बात को उत्सवधर्मिता की शैली में अंजाम देते हैं। हर चीज में संगीत, हर चीज में नाचना, हर चीज में गाना। जबकि हमारे यहाँ दुनिया को बदलने और जो कुछ वांछित हैं उसे बचाने का विचार बड़ा तनाव पैदा करता है। इसी तनाव के कारण दो खेमे बन जाते हैं। वांछनीय को बचाने की कालत करने वाले गैर-प्रगतिशील खेमे में रख दिए जाते हैं, और बेहतर दुनिया बनाने के लक्ष्य से प्रतिबद्ध लोग प्रगतिशील खेमे में मान लिए जाते हैं। ताज्जुब की बात है कि ब्राज़ील में ऐसी स्थिति नहीं लगी।

दूसरी बात जो भारत से भिन्न थी, वह थी समाजवाद के प्रति हिचकिचाहट का अभाव। हमारे यहाँ एक प्रवृत्ति यह विकसित हो गई है कि हम लोग इस शब्द और उसके भविष्य के प्रति कुछ संकोच के

पर यदि कोई कुछ रास्ता सुझा पाएँ तो नई संभावनाओं के द्वार खुलेंगे।

हाशिए के लोगों की भविष्य दृष्टि

जीवंत सपने वाली और सबसे संगठित धारा अनेक संगठनों से फूट रही है। उनमें से एक नेशनल कान्फ्रेंस ऑफ दलित ऑर्गनाइजेशन ने डब्ल्यूएसएफ भागीदारी के अलावा अपनी ओर से एक बहुत बड़ा काम किया है। दलितों को दलित अंधअस्मितावाद से निकाल कर गरिमा के सवाल से जोड़ने के लिए उन्होंने वर्ल्ड डिग्निटी कौन्फ्रेंस का आयोजन किया। व्यवहार में भले ऐसा बहुत न हो पाया हो, लेकिन विचार के स्तर पर उन्होंने यह तय किया कि इसमें सिर्फ दलित नहीं रहेंगे, बल्कि आदिवासी भी रहेंगे, औरतें भी रहेंगी, भेदभाव के शिकार लोग भी रहेंगे, ऊँची जाति के भी लोग रहेंगे। हम जानते हैं कि दिल्ली में बिहारी होना ही गाली जैसा हो गया है। इसी तरह विभिन्न मोर्चों पर ऐसी गरिमा के लिए जूझने वाले तमाम लोगों को हम बुलाएँगे। नेशनल कौन्फ्रेंस ऑफ दलित आर्गनाइजेशन के अशोक भारतीय और जर्मनी की ग्रीन पार्टी के एक फाउन्डेशन के भारतीय चैप्टर हाइनरीख ब्योल फाउन्डेशन के कंट्री डायरेक्टर मुकुल शर्मा पुराने पत्रकार हैं। नागरिक अधिकारों पर उनकी काफी अच्छी पकड़ है। इन दो लोगों ने मिल कर यह काम अंजाम दिया।

शिकार हो गए हैं। जबकि, ब्राजीलियनों को समाजवाद के भविष्य के बारे में खुल कर चर्चा करने में कोई दिक्कत नहीं थी। वर्ल्ड सोशल फोरम में ऐसी तमाम कार्यशालाएँ हुईं जो हमारे यहाँ फैशन और प्रचलन से बाहर मान ली गई हैं। दूसरे, हर चीज को गैर-राजनीतिक नजरिए से सोचने और कहने का आग्रह करने की ताजा भारतीय प्रवृत्ति भी वहाँ नहीं थी। चाहे रोजगार का सवाल हो, जेंडर का हो, दलित का हो या पिछड़ों का हो, राजनीति या राजनीतिक मुहावरे से बचने का प्रयास वहाँ नहीं दिखा, जो भारत में आजकल आमतौर पर दिखता है।

हरियाणा के गाँव कैथल में एक बैठक हुई जिसमें कई हजार दलित शामिल हुए। दिल्ली से रामशरण जोशी भी गए। पिछले 6-8 महीने में देश के जितने छोटे-छोटे शहरों और कस्बों में संभव था, वे गए और उन्होंने दलित समाज को वर्ल्ड सोशल फोरम के बारे में समझाया। वे मानते हैं कि भारतीय समाज परिवर्तन के लिए बेचैन है और हमारे संगठित और स्थापित नेतृत्व को न तो इस बात का एहसास है और न ही उसके पास यह क्षमता है कि वह यह बेचैनी समझ कर उसे एक सामाजिक परिवर्तन की ऊर्जा में रूपांतरित कर सके। उनका यह भी मानना है कि गैरदलित समाज, दलित समाज के बारे में और दलित समाज गैरदलित समाज के बारे में, उनके सपनों के बारे में, उनके संघर्षों के बारे में, पूरी तरह से बेखबर है। सामाजिक परिवर्तन का समग्र एजेण्डा तब तक नहीं गढ़ा जा सकता जब तक यह प्राथमिक शर्त पूरी नहीं होती कि समाज में दोनो एक-दूसरे के बारे में

वर्ल्ड सोशल फोरम : सपना और हकीकत

जब हम वर्ल्ड सोशल फोरम की राजनीति की चर्चा करते हैं तो बातचीत उस सपने से शुरू होती है जो हमने उसके बारे में बुना है। मैं नहीं समझता कि व्यापक फलक पर इस मंच के बारे में कभी कोई बहस हुई हो। मुझे याद आता है कि औपचारिक सम्मेलनों/आयोजनों से पहले एस.पी. शुक्ला, वन्दना शिवा, अशोक राव आदि ने सुरेन्द्र मोहन और विश्वनाथ प्रताप सिंह से कुछ गुप्तगू की थी। यह बात 2001 के जून के महीने और 16-17, 2001 को हुई पहली बैठक के बीच कभी हुई थी। इस अनौपचारिक बातचीत के कुछ अंशों को याद करना ठीक होगा। मैं यह महसूस करता रहा हूँ कि कुछ मुश्किल मुद्दों पर वर्तमान राजनीतिक ढाँचों के तहत बातचीत नहीं हो सकती – चाहे वे गैर-राजनीतिक संगठन हों, राजनीतिक पार्टियाँ हो, मजदूर संगठनों के गठबंधन हों या फिर मौजूदा संगठन ही क्यों न हों।

अच्छी तरह जानें। आखिरकार कुल शोषित समाज दलित समाज से बहुत बड़ा है। इस बात का एहसास दलित समाज को होना चाहिए। इसी तरह से नेशनल कैम्पेन फॉर दलित ह्यूमन राइट्स, ने भी देश में बहुत जगह स्वाभिमान रैली निकाली।

जन-जन तक गोलबंदी के काम में सुभाष लोमटे लगे हैं। वे नेशनल कैम्पेन कमिटी फॉर रूरल वर्कर के राष्ट्रीय संयोजक हैं। हिन्द खेत मजदूर सभा के महामंत्री भी हैं, डब्ल्यूएसएफ की कमेटी के राष्ट्रीय संयोजकों में भी हैं। उन्होंने मराठवाड़ा और विदर्भ क्षेत्र में बड़े पैमाने पर सघन दौरे किए। गाँधीवादी और समाजवादी धारा के लोगों को बड़े पैमाने पर गोलबंद करने में वे पिछले दो साल से लगे हुए थे। कम्युनिस्टों के आस-पास रहे, लेकिन स्वतंत्र बीजीवीएस और ऑल इंडिया साइन्स नेटवर्क ने आपसी बहस के बाद एक बड़ा काम किया कि उन्होंने मार्क्स या किसी अमूर्त मूल्य के नाम पर नहीं, लेकिन राष्ट्रीय

प्रत्येक मंच की अपनी-अपनी दुविधाएँ और सीमाएँ हैं जिनके कारण वे इन मुद्दों को ठीक-ठीक परख भी नहीं पाते। पार्टियाँ होड़ में फँसी हुई हैं और फिर उनके सामने लोकप्रिय बने रहने की दिक्कतें भी हैं। मजबूरीवश वे पूरी सच्चाई भी बयान नहीं कर पातीं। फिर कड़वी सच्चाइयों की उनसे उम्मीद क्यों की जाए? मध्यवर्ग के कुछ हिस्सों से उन्हें क्या-क्या समझौते करने पड़ते हैं, यह बिल्कुल अलग बात है। मध्यवर्ग के ये हिस्से वे हैं जो शासक वर्ग से जुड़े हैं। वे शासक वर्ग के हितों के सीधे पोषक हैं। पर वर्ल्ड सोशल फोरम के साथ इस तरह की मजबूरियाँ नहीं हैं। इसीलिए इस मंच की गतिविधियों में वंचित भी अग्रिम पंक्ति में देखे गए हैं। इन पर नियंत्रण की कोशिश न करते हुए भी वंचितों की सक्रियता इसमें सबसे ज्यादा है। वर्ल्ड सोशल फोरम सहभागियों को अपने मुद्दे चुनने, अपने संसाधन जुटाने, अपना अनुसंधान करने और अपने आंदोलन या लड़ाई को आगे बढ़ाने की अनुमति देता है। आप खुद देख सकते हैं, विश्लेषण कर सकते हैं कि आपने किस मुद्दे पर लड़ाई की, आपकी क्या माँग थी और उसका क्या असर रहा। फोरम में राजनीति के अपराधीकरण की समस्या

आंदोलन से जुड़े स्थानों पर काफी बहस की। सब लोग इससे बहुत खुश नहीं थे, लेकिन पूरे देश में रैलियाँ निकलीं और चम्पारण, सेवाग्राम, जलियाँवाला बाग आदि स्थानों पर इनके कार्यक्रम समापन हुए। गाँधी, राष्ट्रीय आन्दोलन और जलियाँ वाला बाग में हुई राष्ट्रीय कुर्बानी को बीजीवीएस द्वारा एक केंद्रीय महत्त्व दिया गया। इससे सामाजिक स्तर पर एक फिजाँ बन गई।

कहना न होगा कि संगठित धाराओं के संगठन एक मायने में हाशिये पर हैं। कम्युनिस्ट आंदोलन में बीजीवीएस हाशिये पर है। दलितों में अशोक भारती को कोई नेता नहीं मानता। वे सरकारी नौकरी करते हैं। हाशिये के आदमी हैं। एनसीडीएचआर क्रिश्चियन-दलित होने के कारण हाशिये पर है। लेकिन, कई बार हाशिये वाले लोगों में भविष्य के सत्य में झाँकने की क्षमता ज्यादा होती है। मुख्य धारा के भँवर में जो ज्यादा नहीं फंसे हैं, हाशिये के तमाम संगठन, हमारे जैसे

जैसी बहसें भी चल रही होती हैं।

मेरे मित्र दिनेश राम के अनुसार जब लोग पुलिस या अदालत की बजाय न्याय के लिए किसी दबंग सांसद या विधायक के पास जाते हैं तब उसकी जाति का ख्याल नहीं करते। वे यह भी नहीं देखते कि वह सांसद और विधायक दबंग है। इसलिए कि उसके भी माफिया से संबंध हैं। उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में भी, जहाँ चुनाव के नजरिये से देखें तो चमार, यादव, अहीर का ध्रुवीकरण नजर आता है, ये दबंग सांसद या विधायक पूरी तरह जाति के रंग में पेश नहीं आते। उन्हें भी औचित्य और न्याय की थोड़ी बहुत समझ होती है। जातीय रंग में रंगे राज्य में भी अनौपचारिक तंत्र के माध्यम से न्याय प्रदान करने की प्रक्रिया को कमोबेश लोकतांत्रिक ही कहेंगे। मैं भी अगर समाजवादी पार्टी में होता, या खुद मुलायम सिंह यादव ही होता, तो किसी के चमार होने या न होने का मुझ पर कोई असर नहीं होता। बहुजन समाज पार्टी में भी ऐसे मौकों पर जातिवाद का कोई सवाल नहीं उठता। फोरम एक ऐसा स्पेस है जो इस तरह की स्थितियों पर, उनके लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक पहलुओं पर गौर करने की गुंजाइश

लोग, जिन्हें समाजवादी बहुत समाजवादी नहीं मानते और सुभाष लोमटे जैसे बहुत से लोग इसमें लगे हुए हैं। महाराष्ट्र सोशलिस्ट फ्रंट के संयोजक संजीव साने हमारे एक साथी हैं। वे किसी मीटिंग में जा ही नहीं पाए, और देशभर के समाजवादियों के लिये व्यवस्था में लगे रहे। उसी तरह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पूरी टीम एकदम गुमनामी में लगी रही। सैकड़ों लोग थे, और छोटे स्तर के अनेक संगठन थे, जिन्होंने डब्ल्यूएसएफ को अपना माना। वहाँ हर सहभगी को आयोजक होने का भी एहसास था। यह एहसास इसलिए बन पाया कि बहुत लोग अपनी चिन्ता न करके एक बृहद आयोजन सफल करने में लगे थे। उनके लिए यह कार्यकर्ता समाज की इज्जत का सवाल था। देश की इज्जत का सवाल था। जो लोग भूमंडलीकरण से लड़ना चाहते हैं उनकी इज्जत का सवाल था। भावना से लोग जुटे थे।

देता है।

मेरा मानना है कि वर्ल्ड सोशल फोरम का खुला 'स्पेस' उसकी ताकत है। उसे मजदूर संगठनों, पार्टियों, विचारधाराओं, गैर-सरकारी संगठनों आदि को मजबूत करने के लिए इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। हम लोग विभिन्न मतों, तौर-तरीकों में विश्वास करने वाले लोग हैं। अपने अलग देखने वाले कोनों से कुछ उपाय ऐसा निकालें कि वर्ल्ड सोशल फोरम सभी का लगे। एक तरफ आरोप यह भी आता है कि गैर-सरकारी संगठन उसका गैर-राजनीतिकरण करना चाहते हैं। उनके लिये बहुत बड़ा बजट, बहुत बड़ा धन मायने रखता है। उससे वे राजनीति से लोगों को चुन सकते हैं, राजनीतिकरण की प्रक्रिया में योगदान कर सकते हैं, और जनसंगठनों को पीछे धकेल सकते हैं, और खुद ऐसी स्थिति में रहना चाहते हैं कि संचालक की तरह दिखें। दूसरी ओर गैर-सरकारी संगठन कहते हैं कि राजनेता तो गैस की तरह हैं, उनसे कुछ होता-हवाता नहीं है। वे धेले भर का काम नहीं करते। मेरा कहना यह है कि हर तरह के संगठनों के लिए डब्ल्यूएसएफ में अलग-अलग तरह की भूमिकाएँ हैं। उनकी अपनी

वर्ल्ड सोशल फोरम की शुरुआत

डब्ल्यूएसएफ शुरु कैसे हुआ यह जानना रोचक होगा। सीएटल में जो आंदोलन हुए, उसके बाद ब्राजील की वर्कर्स पार्टी में ओडेड नाम के एक सज्जन हैं जो 'बिजनेस विद रिस्पांसिबिलिटी' नाम का एक संगठन चलाते हैं, उनके मन में आया कि इन तमाम विरोधों की कोई साझी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। उन्होंने सोचा कि क्या इनका एक संयुक्त मोर्चा जैसा बन सकता है? फिर उन्होंने सोचा कि नहीं, अभी तो हमें समझ ही नहीं है। हमारे यहाँ चौपाल कहने से तुरंत बात समझ आती है क्यों न चौपाल ही कहा जाए। उनके लिए यह उसी तरह से विस्मित खुशी का विषय था जैसे आर्कमिडीज के लिये यूरेका हुआ था। एक बड़े एलार्म की तरह वह बात आई कि हम एक ऐसा मेला करेंगे जो चौपाल की तरह होगा। आडेड ने चीको व्हिटेकर नाम के

विशिष्ट खूबियाँ भी हैं और कमजोरियाँ भी। उन पर कभी अलग से बातचीत हो सकती है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि विभिन्न संगठनों का विश्लेषण न किया जाए। मैं तो यह कह रहा हूँ कि वर्ल्ड सोशल फोरम को वह तो करने दो जिसे हमारी राजनीति के अलग-अलग दल या सभी मिल कर भी नहीं कर पा रहे हैं। वे मुद्दे कौन से हैं, जिन पर बात हो सकती है, जिन पर विचार-विमर्श जारी रह सकता है, ताकि उसका संवेदन सांगठनिक, परियोजक या भौतिक अंगों तक पहुँचे। मानसिक स्तर पर जटिल समस्याओं पर होने वाली कठिन बहसों के सारतत्त्व को नीचे तक कार्यकर्ता स्तर तक, पहुँचते रहना चाहिए। फोरम को इसके लिए इस्तेमाल करना चाहिए।

मैं समझता हूँ कि जिन सूचना-साधनों के आज कुछ लोग अभ्यस्त हो चुके हैं, उनसे बाहर भी वंचितों की एक बड़ी दुनिया है। यह बोलियों-भाषाओं का भारत है, नॉन-डिजिटल भारत। वह ई-मेल का इस्तेमाल नहीं करता। उस तक सूचनाएँ आधुनिक साधनों से पहुँचाना आसान नहीं है। पर जरूरी है कि भारत का यह बड़ा हिस्सा आपकी चेतना में बना रहे। इंडिया और भारत अलग-अलग रूप हैं।

एक लिबरेशन थियोलोजियन (जो चर्च के कार्यकर्ता हैं) से संपर्क किया। इन लोगों ने सीएटल के बाद सोचा कि बिना किसी एजेण्डे के मिलकर बैठना चाहिए। विचार यह आया कि जब दुनिया के महाजन दावोस में मिलते हैं, उनसे अलग अपना नजरिया विकसित करना है तो उसके समानान्तर तारीखों में ही बैठना चाहिए। प्रदर्शनों की संख्या वगैरह देखकर इन्होंने अंदाज लगाया कि चार हजार लोग आएँगे। चार हजार लोगों का ही इंतजाम किया, पर उसमें बीस हजार लोग पहुँच गए। यह दोबारा होना चाहिए, इस सोच के तहत उन्होंने वहाँ के मजदूर संगठनों के प्रतिष्ठित और प्रखर राष्ट्रीय फेडरेशन सीयूटी को उसमें शामिल किया। जिस अंतर्राष्ट्रीय करन्सी विनिमय से अर्थतंत्र नष्ट किये जाते हैं, और डॉलर को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बनाकर अमेरिका जिस तरह से आज भी जिंदा है, उस विनिमय पर एक अंतर्राष्ट्रीय कर (टोबिन टैक्स) लगे, इसके लिए एटेक नाम से एक संगठन है, उसके

मैं जाति के आधार पर तो नहीं कहना चाहता, पर संगठनों के आकार-प्रकार भी तरह-तरह के हैं। कौन कितना दिखाई देता है, कौन नहीं; कौन मुखर है, कौन नहीं; इस तरह अनेक विभाजक कारक हो सकते हैं। आज ऐसे उपकरण मौजूद हैं जिनकी मदद से कुछ ही घंटों में दूर-दूर के लोगों से संपर्क साध लिया जाता है। बहुत से लोग इस प्रक्रिया से छूटे रह जाते हैं। ऐसे में एक ऐसी राज्य-व्यवस्था बने जो ठोस स्वीकृति के साथ ऐसे लोगों को स्थान दे सके जो रोज की दिनचर्या में अंगीकृत नहीं हो पाते, जिन्हें 'स्पेस' मिल ही नहीं पाता। हम चेतनमन से उन्हें 'स्पेस' दे सकें। यह चेतनमन से दिया गया स्पेस ढर्रागत कामों के अंतर्गत न देकर उनके आत्मसम्मान का ध्यान रखकर दिया जाए। ऐसा सम्मान राजनीतिक शर्तों के आधार पर होना चाहिए। उन पर कृपा या उनका संरक्षण करने की भावना से नहीं। मात्र एक समारोह, घटना या 'ईवेंट' है, तब ये प्रश्न खड़े नहीं होते। पर अगर वह 'प्रक्रिया' है, तब उसकी राजनीतिक संस्कृति पर ऐसी सतत बहस जरूरी है जो स्वभाव से टकरावमूलक न हो और

लोग भी शामिल हुए। उसी तरह से भूमिहीन किसानों का संगठन एम. एस.टी., बिजनस विद रिस्पॉन्सिबिलिटी, गैरसरकारी संगठनों का एक राष्ट्रीय फेडरेशन और चर्च मिशन, पीस एण्ड जस्टिस कमिशन ऑफ चर्च, वर्कर्स पार्टी के भी सभी लोग हाशिये पर थे। इन्होंने यह तय किया कि हम अपनी पार्टी को पार्टी की हैसियत से नहीं बुलायेंगे। गैरपार्टी हैसियत से ही लोग इसमें आएँगे। लेटिन अमेरिका में चर्च के बहुत से आंदोलन हिंसा आधारित हैं। उनकी विचारधारा क्रांतिकारी हिंसा को वैध हथियार मानती है। ब्राजील एक तरह का अपवाद है। दूसरा, इन्होंने तय किया कि जो संगठित हिंसा से समाज बदलना चाहते हैं, उन्हें हम लोग नहीं बुलाएँगे। तीसरा, सरकारी अफसर या मंत्री वगैरह अपने मंत्री होने की हैसियत से नहीं आएँगे। चौथा, डब्ल्यूएसएफ चौपाल रहेगा। वह कोई साझा प्रस्ताव नहीं पारित करेगा। लेकिन उसमें लोग आएँ, गठबंधन बनाएँ, प्रस्ताव पारित करें,

प्रतिरोधात्मक ढंग से भी न की जाए।

जहाँ तक बैठकों और आयोजन का सवाल है, अगर हम अपने संगठनात्मक चरित्र में सादगी ला सकें तो, भारत के और अधिक लोग फोरम में भाग ले सकेंगे। वरना वर्ल्ड सोशल फोरम की प्रक्रिया में हमारे यहाँ से इंडिया का ही अधिकांश हिस्सा रहेगा। एक और बात जोड़नी है कि विभिन्न क्षेत्रों और विचारधाराओं के लोग इसमें भाग लें। समाजवादियों के लिए तो फोरम इसलिए भी अनुकूल है कि उनकी कोई अखिल भारतीय पार्टी नहीं है। मजदूर संगठन के अलावा कोई सुगठित संगठन भी नहीं है। समाजवादी गुटों की उपास्थिति बहुत बड़ी संख्या में है। यह बड़ी संख्या समाजवादियों को एक तरह की स्वतंत्रता भी प्रदान करती है जो अन्य संगठित विचारधाराओं में नहीं है। लेकिन, एक वैचारिक क्षेत्र होते हुए भी उन्हें आसानी से लामबंद करना आसान नहीं है। वर्ल्ड सोशल फोरम इस तरह के राजनीतिक बिखराव को एकजुट करने का बहाना बन सकता है। मेरी मान्यता है कि मौजूदा वैश्विक स्थिति में, एक तरह के स्थायी या

लेकिन वे उनके अपने समूहों के प्रस्ताव रहेंगे। उन प्रस्तावों को जारी करने में हम लोग मदद करेंगे, लेकिन खुद ऐसा नहीं करेंगे। यही हम अगले साल भी करेंगे। लेकिन पहले ही साल उन्होंने सोच लिया कि इस प्रक्रिया को सारी दुनिया में फैलाना है। उन्होंने नारा दिया कि 'एक बेहतर दुनिया मुमकिन है। चूंकि भारत में विकल्प जीवन्त है और गाँधी इसी देश में हुआ है, इसलिए उन्होंने तय किया कि ब्राजील के बाहर इसे पहले भारत में ही होना चाहिए।

मैं पहली बार जून में हेलिसिंकी के एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में गया। वहाँ मुझसे संपर्क किया गया, लेकिन, मैंने बहुत रुचि नहीं दिखाई। फिर दिसंबर 2001 में उनके तीन लोग बंगलूर आए। वहाँ ए सीटू, वेटर, पेंजिओज, सुभाष लोमटे आदि लोगों ने भी हामी नहीं भरी। उन्होंने मेरी अनुपस्थिति में एक कमेटी का मुझे संयोजक बनाकर यह जिम्मेदारी दी कि 9-10 जनवरी 2002 को मैं एक बैठक बुलाऊँ। इस

सतत गतिशील बहाव की स्थिति में वर्ल्ड सोशल फोरम का तर्कसंगत आधार जो भी हो, उस पर और बड़े सार्वजनिक मंच या जनसंचार माध्यमों में चर्चा होती रहनी चाहिए। यह इसलिए भी कहना पड़ रहा है कि अभी जो संगठन उसके भीतर हैं उनकी विचारधारा भी पूरी तरह भीतर है या नहीं, यह कहना मुश्किल है। कम से कम समाजवादी टीम की ओर से मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मैं सभी प्रमुख और रणनीति-निर्माताओं को या सांगठनिक नेतृत्व को इस मंच के पक्ष में नहीं कर पाया हूँ। इस टीम के जितने भी नेता इसमें शामिल हुए हैं, वे मंच की परिपूरक भूमिका को देखते हुए नहीं आए हैं। बल्कि, वे इसलिए आए हैं कि वे 'स्पेस' को अपने हाथ से इसलिए नहीं जाने देना चाहते, वरना उसे वे लोग हड़प लेंगे जिनका 'ओपन स्पेस' में यकीन नहीं है। दूसरे लोग उसे 'हाइजैक' न करें इसलिए 'खुले मंच' के विचार को पूरी तरह खिलने से करीब-करीब रोका जा रहा है। इसी मकसद से हममें से अनेक वहाँ मौजूद हो सकते हैं। ये चीजें उंगली उठाकर हल नहीं हो सकतीं। वर्ल्ड सोशल फोरम की विशिष्टताओं के साथ यह वैचारिक जुड़ाव मात्र है। यह जुड़ाव हमारी

बैठक में हम लोगों ने तय किया कि हम भारत का आयोजन करेंगे और एशिया का नेपाल के लोग करेंगे। भारत का आयोजन तो जनवरी में हो गया, लेकिन नेपाल में राजमहल के हादसे की वजह से नहीं हो सका। इसलिए भारत को एशिया का फोरम भी 2003 में हैदराबाद में करना पड़ा। 2004 में हमने वर्ल्ड सोशल फोरम का वायदा किया था। वह हम लोगों ने कर दिखाया। महत्त्वपूर्ण बात यह है अरुणा राय, मेधा पाटकर, योगेन्द्र यादव जैसे 60-70 लोगों के छोटे समूह की सहमति के आधार पर यह संभव हो सका। सुरेन्द्र मोहन ने भाकपा और माकपा से बात करके उनके लोक विज्ञान आंदोलन और ट्रेड यूनियन को शामिल करवाया। एक छोटे समूह की शुरुआत से इतनी बड़ी संख्या में लोग शामिल हो पाए, इसलिए मैं बार-बार यह निवेदन करना चाहता हूँ कि हम मध्यवर्गीय लोग, जो इंडिया के ज्यादा असर में हैं, उन्हें यह बात

सीमित भूमिका स्वीकार करने के बाद हुआ है। इसी को मैं अपनी सीमांतता स्वीकार करना कहता हूँ। यह हमारी एक तरह से ऐसी विशिष्ट भूमिका है जिसे अकेले गैर-सरकारी संगठन नहीं निभा सकते। पार्टियाँ भी चाहें तो अकेले अपने बल पर यह भूमिका नहीं निभा सकतीं। विचारक भी अलग से इसे नहीं निभा पाएंगे। वर्ल्ड सोशल फोरम प्रक्रिया के माध्यम से सभी मिलकर ही इसे निभा सकते हैं। यानी यह विशिष्ट भूमिका सचेतन मन से तय की गई सीमित और किन्हीं बिन्दुओं पर केंद्रित भूमिका है जो भारतीय राजनीति के अन्य तत्त्वों के साथ परिपूरक के रूप में निभाई जा सकती है।

अपनी स्थिति और उसके जुड़ावों के बारे में एक स्पष्टीकरण और जरूरी है। यद्यपि समाजवादी आंदोलन का उद्गम मार्क्सवाद ही है, पर मैं उसे गैर-मार्क्सवादी वाम मानता हूँ जिसके साथ अंबेडकरवादी, गाँधीवादी और जनांदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय के कार्यकर्ता मिलकर सोशलिस्ट फोरम की रचना करते हैं। कुछ और भी सवाल हैं: जैसे 'ग्रास रूट' को 'वैश्विक' से कैसे जोड़े? यह भी कि जिले की स्थिति क्या है? 1980 के दशक में जिन 150 पिछड़े जिलों की पहचान हुई

बार-बार याद करनी चाहिए कि अपनी अस्मिता बचाने, अपनी अस्मिता नए ढंग से परिभाषित करने की और अपने ढंग से पुर्नपरिभाषित और पुर्नरचित करने की भारत की तैयारी बहुत अच्छी है। भारत मुस्तैद है। हम लोग ही गड़बड़ा रहे हैं। इस एहसास को अगर हम जीएँगे नहीं तो डब्ल्यूएसएफ में भारत के तमाम लोगों ने जो कष्ट सहा, इंडिया के तमाम लोगों ने जो मेहनत की, वह सब जाया हो जाएगी।

संगठन नहीं, चौपाल

संगठन और चौपाल की दुविधा के बारे में मुझे लगता है कि जिनका आम लोगों में एक लोकतांत्रिक भरोसा है, उन्हीं का चौपाल में भरोसा होगा। वैसे लोग, चाहे वह अंतर्राष्ट्रीय काउंसिल हो, चाहे वह भारत की आयोजन समिति हो, उनकी संख्या उसमें कम होगी। तकनीकी रूप से कभी भी यह फैसला संगठन के पक्ष में हो सकता है

थी उन पर कैसे ध्यान केन्द्रित किया जाए। मेरे विचार से 'सफलता' या 'दृश्यमानता' के आधार पर भी बहस होनी चाहिए। सुरेन्द्र मोहन और सिद्धराज ढड्डा एक ही समय के और गाँधीवाद में विश्वास करने वाले एक ही तरह के समाजवादी हैं। सिद्धराज ढड्डा के रूप में कोई सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही 94 और 96-7 वर्ष की आयु में राजनीति के क्षेत्र में इतनी अधिक सतर्कता, सक्रियता या दृढ़ता का परिचय दे सकता है। मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्र में एक छोटे से गाँव में पैदा हुई मेधा पाटकर विश्वस्तरीय बहसों में साफ तौर पर दृश्यमान हैं। भले ही वे मतदान को प्रभावित न करती हों, लेकिन विचार-विमर्शों में तो उनका प्रभाव रहता ही है। इसलिये जब हम 'ग्रासरूट' को वैश्विक स्तर से जोड़ने की बात करते हैं तब दूरस्थ को भी जोड़ें, महत्त्वपूर्ण को भी और प्रयोजन को भी। मैं चाहता हूँ कि इस बात पर गंभीरता से बहस की जाए कि दक्षिण एशियाई, एशियाई और अफ्रो-एशियाई स्तरों पर जुड़ने वाले विभिन्न आन्दोलनों की कितनी ऊष्मा रही है। समीर अमीन को इस बात में ज्यादा दिलचस्पी है कि 2007 में अफ्रीका सम्मेलन के रूप में एक बड़ा आयोजन होगा। हम

और जिस दिन यह हो जाएगा उस दिन नई सृजनात्मकता से जुड़ने पर विराम लग जाएगा। उसकी गति में एक निर्णायक बाधा आ जाएगी। इसलिए आपद स्थिति के तौर पर पूरी दुनिया में भारत के समतुल्य जो समाज है वहाँ भी भारत बनाम इंडिया का झगड़ा है। जितने लोग अमेरिकन उपभोगवाद का स्वर्ग संभव मानते हैं, उन्हें लगता है कि कहीं वैचारिक स्पष्टता में गड़बड़ है। लोग ठीक से समझ नहीं रहे हैं। कहीं ईमानदारी में गड़बड़ है। कहीं कुर्बानी देने में, हरेक अपने-अपने हिसाब से गड़बड़ देख रहा है। उनके पास पूरी दुनिया को बेहतर बना देने का सूत्र है और उन्हें यह जरूरी नहीं लगता कि कुछ सवालों पर थोड़ा अंतर्मुखी होकर बुनियादी रूप से सोचने की जरूरत है। हमारे जो तथाकथित लोकतांत्रिक राज्य हैं, उसमें लोक-इच्छा और तंत्र की स्वायत्तता स्थगित है। कोई भी सरकार आए भूमंडलीकरण होगा, यह विवशता इसलिये है कि लोकतंत्र की प्रातिनिधिकता भी

चाहते हैं कि इसमें भारत का प्रतिनिधित्व हो। वर्ल्ड सोशल फोरम की भूमिका आन्दोलन को वैश्विक रूप दे रही है। लेकिन, वैश्विक रूप का यह अर्थ कतई नहीं है कि स्थानीयता या 'ग्रास रूट' को नज़रअंदाज किया जाए। इसका अर्थ यह है कि 'ग्रास रूट' लोगों में क्षमता संवर्धन हो, और हमारे बीच भी जो दृष्टा है उनके देखने की क्षमता में भी संवर्धन हो, ताकि हम निचले तबकों को देखकर उनकी सुन भी सकें। उनके और हमारे बीच संबंध कायम रह सकें, ताकि हम अपने को उन्हीं का हिस्सा मानें। संसाधनों के नजरिये से देखें तो सम्पूर्ण 'ग्रास-रूट' का अन्तर्राष्ट्रीय 'गैर-सरकारी संगठन' या किसी डब्ल्यूएसएफ में तब्दील होना संभव नहीं है। उसी तरह जब हम कहते हैं कि अमुक डब्ल्यूएसएफ सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, तब संपूर्ण भारत तो उसमें जाएगा नहीं। ब्राजील में भी भारत का संपूर्ण कार्यकर्ता समुदाय नहीं जा सकता। तब क्या भारत के प्रतिनिधित्व का अर्थ होगा नीचे से ऊपर तक का दृष्टव्य, महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, विषय, समस्या और उनसे संबद्ध कार्यकर्ता? हममें से वे लोग जो 'ग्रास रूट' से नहीं जुड़े पर वैश्विक अधिवेशन में भाग ले रहे हों,

समाप्त हो गई है। इस सवाल पर सोचने के लिए अगर हमने संगठन बना लिया तो इस पर सोचने की तैयारी नहीं रहेगी। हो सकता है इसमें मेरा दुराग्रह हो। हम लोगों ने विश्वनाथ प्रताप सिंह की प्रेरणा से और एस.पी. शुक्ला के संयोजन में इंडियन पीपुलज कैम्पेन अगेंस्ट डब्ल्यूटीओ बनाया था। कानकुन से पहले जब हमने एक अच्छा प्रदर्शन कर लिया, तो उसके बाद मैंने कहा कि भैया, अच्छा हुआ केरल में आप लोग हार गए। अब जरा भूमण्डलीकरण पर ईमानदारी की बहस हो जाए। आपकी सरकार थी तो भूमण्डलीकरण पर ईमानदार बहस नहीं हो सकती थी। अब विपक्ष में हो तो बहस कर लो। इस पर सीताराम येचुरी हिकारत से हँसे। उन्हें यह बात करने लायक ही नहीं लगी। विकास के मॉडल पर अपनी सरकारों के दिवालियापन पर और बंगाल सरकार जिस तरह विदेशी पूँजी के जाल में फँसती जा रही है, इस पर वे लोग खुली बहस नहीं करना चाहते। माकपा के जो सबसे

उन्हें और उनकी बातों को किस तरह से जोड़ें। राष्ट्रीय, दक्षिण एशियाई, एशियाई और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की बातचीत या बहस को डब्ल्यूएसएफ की खिड़की से निचले तबकों से कैसे जोड़ें और इन तबकों को इन बहसों तक कैसे लाएँ? इसके लिए कौन से रास्ते खोजे जाएं ताकि संबंध दोतरफा बन सकें?

फंडिंग की संस्कृति से अगर कोई तनाव उभरे हों, तो उन्हें शांत करने का उपाय मेरे पास नहीं है। एक सीमित उत्तर मेरे पास है कि मंच में जितने ग्रुप या 'सेक्टर' जुड़े हैं उनमें से प्रत्येक की अपनी ताकत भी है और इतिहास भी। हम शून्य से शुरू नहीं हो रहे हैं। भारत की राज्य व्यवस्था भी शून्य से नहीं गिनी जाएगी। इसलिए अगर मेरा संबंध किसी गैर-सरकारी संगठन से है या किसी पार्टी से या मजदूर संगठन से है, तो मान लेना चाहिए कि फंडिंग संस्कृति का मेरा अपना इतिहास रहा है और उसके सभी पक्षों से मैं भली भांति परिचित हूँ। इसीलिए, कहीं भी काम करते हुए मैं कम से कम उस हिकारत की नजर से नहीं देख सकता, या उसे नफरत नहीं कर सकता जिससे मैं 'फंड' लेता हूँ। उसे घृणा भी करूँ और यह भी चाहूँ

गैरराजनीतिक संगठन (अंदर वाले भी इसे गैरसरकारी संगठन मानते हैं) बीजीवीएस. और ऑल इंडिया पीपुल साइंस नेटवर्क को ही शामिल होने की इजाजत दी गई थी। एशिया सोशल फॉरम के बाद और मुम्बई के सोशल फोरम तक सीटू के महासचिव श्री वर्दराजन की भागेदारी से पूरी प्रक्रिया को गरिमा मिली।

किसी भी विचारधारा के कठमुल्ला लोग चौपालनुमा हस्तक्षेप को अपनी प्रभावहीनता का कारण मानते हैं। सर्वोदयी हों, चाहे समाजवादी, उन्हें लगता है कि बिना एक्शन प्रोग्राम के चौपाल कहना चौपाल के ही खिलाफ है। उनके तमाम संगठन जिस तरह से प्राणहीन हो गए हैं, उसकी जिम्मेदारी भी वह चौपाल पर ही डाल देना चाहते हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि चौपाल अपनी जगह है। पर सारी अपेक्षाएँ चौपाल से ही क्यों? उनके अपने संगठन हैं, संगठन के औजार हैं, मंच हैं, मोर्चे हैं उन्हें बनाएँ, चलाएँ। राज्य से रिश्ता पुनः परिभाषित

कि वह मेरी मदद भी करता रहे, यह एक अजीब स्थिति होगी। इससे उबरने का कोई रास्ता निकालना चाहिए। क्या हम मिलकर कोई ऐसा उपाय कर सकते हैं? बीच में दरिया या खाई पड़ने पर उसके ऊपर पुल बनाने का काम कर सकते हैं। हम राजनीतिक सहभागी हैं, और ऐसी स्थिति में मैं अपने को छोटा नहीं मानूँगा अगर मैं फंडिंग एजेंसी मानकर आपसे आर्थिक मदद लूँ। इन बातों पर हमें खुलकर बातचीत शुरू करनी चाहिए, क्योंकि वर्ल्ड सोशल फोरम हमेशा सपने की तरह तो नहीं रहने वाला है। अगर उसमें कुछ नई विकृतियाँ नजर आने लगे या कुछ नये चेहरे जुड़ने से नये परिवर्तन नजर आए, तो हर हालत में हमें उत्तर के साथ उपस्थित रहना चाहिए। इसके लिए खुल कर बातचीत का होना अत्यंत जरूरी है। मुझे याद है मैं जब वंदना शिवा, अशोक राव और सुरेन्द्र मोहन और विश्वनाथ प्रताप सिंह को बातचीत करते हुए सुन रहा था, तब वे इस मंच को वैविध्य, संपन्नता और भारतीय वाम के एक बड़े हिस्से को सामने लाने का अवसर मान रहे थे। यही वह मूल स्वप्न है और यही वह राजनीति है, जिसे मैं पूरे विश्वास के साथ आगे बढ़ाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हम सब

कर लें। मार्क्सवादी भी अब राज्य के चरित्र के बारे में बात नहीं करते। केरल की सरकार के पास वेतन देने के लिए पैसे नहीं है। वह एशियाई विकास बैंक से कर्ज लेती है, कोकाकोला की फैक्ट्री को लाइसेंस देती हैं और कम्युनिस्ट पार्टी के महामंत्री उसका बचाव करते हैं। एन.ए.पी. एम. वालों ने जब केरल में आंदोलन किया तो सुरजीत ने वहाँ जाकर बयान दिया कि लोग देश का विकास चाहते हैं कि नहीं। और, देश का विकास चाहते हैं तो एडीबी से कर्ज लेना होगा। वह कर्ज लेना है तो फिर कोकाकोला को लाइसेंस देना होगा। इन शर्तों और शोषण चक्रों का हमारी पार्टियाँ और विचारधाराएँ सामना करने को तैयार नहीं हैं। हमें लगता है कम्युनिस्ट अगर ईमानदार और खुली बहस करते और कुछ समाजवादी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दलाली में न जाते, तो शायद हम देशज और अंतर्राष्ट्रीय विकास के बेहतर मॉडल विकसित कर पाते। जिस भारत का मैंने जिक्र किया, जिसकी महत्वपूर्ण उपस्थिति थी, उस भारत को वहाँ लाने में भी इंडिया की बड़ी भूमिका थी। मोहल्ले—मोहल्ले में इंडिया, गली—गली में इंडिया,

अपनी ओर से अधिक से अधिक सहयोग देकर लोकतांत्रिक राजनीति को पुनर्जीवित करें। 'लोकतांत्रिक' इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि मैं महसूस करता हूँ कि लोकतांत्रिक होना जीवन पद्धति का ही दूसरा नाम है। अगर उसमें सबकी भागीदारी भी हो सके तो व्यापक कलेवर के साथ अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं के कारण वही आमूलचूल परिवर्तन—प्रक्रिया की पर्याय भी हो जाती है। इसलिए मैं लोकतंत्र के साथ कभी 'आमूलचूल परिवर्तनकारी' 'सहज', 'स्वाभाविक' जैसे विशेषण नहीं लगाता। अगर वर्ल्ड सोशल फोरम हमारी लोकतांत्रिक प्रक्रिया को ऊर्जावान बना सके तो स्वाभाविक रूप से वह परिवर्तनगामी तो होगा ही, कभी न थमने वाले प्रवाह के साथ उसके परिणाम भी उत्साहजनक होंगे। ऐसे में बहुत जरूरी है कि हम सब पूरी ताकत के साथ वर्ल्ड सोशल फोरम प्रक्रिया से जुड़ें। उसके भीतर तो काम करें ही, बाहर से भी उसे बल प्रदान करते रहें, ताकि राष्ट्रीय स्तर पर और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी वह सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करने वाले औजार की तरह अपनी भूमिका बेहतर ढंग से निभा सकें।

घर-घर में इंडिया और इसलिए इस बात को आप समझ लें कि इंडिया बिना भारत नहीं खड़ा हो सकता।

आध्यात्मिकता जब भारत में स्थापित हो रही थी तब दुनिया के बहुत से देशों में उससे मिलती-जुलती विचारधारा पनप रही थी। भूमण्डलीकरण के युग की एक साझी पहचान होती है। उसमें तरह-तरह की अंतःक्रियाएं और एक-दूसरे के विरोधी प्रवाह समय के साथ चलते रहते हैं। अमेरिका में भी उस तरह की विषमता, पुरातनपंथ और अंधविश्वास है जिस तरह हमारे यहाँ है। दुनिया का विविधतापूर्ण होना बड़ा सत्य है बजाय उसके कि वह ग्लोबलाइज्ड है या लोकलाइज्ड है। ये इस वास्तविकता से हटकर दूसरा संकेत देते हैं। 80-90 फीसदी मछुआरों को खत्म करना और मछुआरों का वर्ल्ड ट्रेड शुरू करना, 80-90 फीसदी दस्तकारों को खत्म करना, यूरोप में 3 प्रतिशत लोग खेती करते हैं पर उनकी बजाय 70 फीसदी लोग जो तीसरी दुनिया में खेती करते हैं उन्हें खत्म करना। यह इकॉनॉमिक भूमण्डलीकरण कैसे हुआ? दरअसल भूमण्डलीकरण के नाम पर इकॉनॉमिक डिस्ट्रक्शन हुआ। हम इसके खिलाफ हैं। हर इंसान एक सम्मानित जीवन जीना चाहता है। हम ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जिसमें ब्राह्मण को भी श्रम करना पड़े। गांधीजी कहते थे वोट का अधिकार भी उसी को दो जो श्रम करे। लेकिन, ये लोग नॉलेज सिस्टम और क्या-क्या ऐसी बात कर रहे हैं जो लोग न श्रम करें और न सोचें, इंटरनेट से टीप कर लेख लिख दें, वे ही ज्ञानी माने जाएँ। तो ऐसे भूमण्डलीकरण का विरोध होना चाहिए।

अभी का जो भूमण्डलीकरण है उससे हमारी विविधता नष्ट हो रही है। इसमें कोई संशय नहीं है। 20 साल पहले पूरी दुनिया में कोकाकोला जिन्हें बहुत रद्दी लगता था, अब उन्हें लगता है कि कोकाकोला को रद्दी कहना पिछड़ापन माना जाएगा। इस तरह संस्कृति का विद्रूपीकरण हो रहा है।

सवाल उठ रहा है कि हम चुनाव पर कैसे असर डालेंगे। कुछ लोगों का एजेण्डा है कि एक अच्छी पार्टी होनी चाहिए जो राज्य का

चरित्र बदल दे। उनकी यह अपेक्षा हम जैसे दरी बिछाने वाले लोग पूरा नहीं कर सकते। पूरी दुनिया में चुनाव का मुख्य औजार पार्टी मानी जाती है। उसे तो हमने बुलाया ही नहीं। फिर चुनाव पर सवाल क्यों उठ रह है। जहाँ आम लोग भी तुतलाती जुबान में छोटे-छोटे सवाल उठा सकें, वहीं जो होता है उसे चौपाल कहते हैं। वसुधैव कुटुम्बकम की अवधारणा जीने के लिये ही यह चौपाल है।

हिन्दुस्तान में वसुधैव कुटुम्बकम की एक बड़ी परम्परा रही है। हर तरह की अंतर्राष्ट्रीयता से वह अलग है। कम्युनिज्म, इस्लाम, क्रिश्चियनिटी और बौद्धधर्म अपने ढंग से पूरी दुनिया को ढाल देना चाहते हैं। ये कुटुम्ब को वसुधा का प्रतिबिम्ब नहीं मानते। भारतीय अंतर्राष्ट्रीयतावाद के तहत हर कुटुम्ब में विद्यमान है जगत। हमारी समझ में कुटुम्ब भी पूरी दुनिया और पूरे ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब है। पूरी दुनिया भी कुटुम्ब के सिद्धान्त पर चल सकती है। परिवार के हर सदस्य का अपना अस्तित्व होता है व महत्त्वपूर्ण भूमिका है, परन्तु परिवार की साझी विरासत व लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्धता भी। जिस तरह परिवार में बच्चे, बूढ़े और रोगी का ध्यान रखा जा सकता है, उसी तरह से इस दुनिया के परिवार में जो भी कमजोर है, जो भी हाशिये पर है वह भी बराबर का सम्मानित सदस्य होगा। हमारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद ज्यादा जटिल, ज्यादा परिपक्व, ज्यादा सुखद और ज्यादा मानवीय हो सकता है। डब्ल्यूएसएफ का भविष्य तभी है जब उसमें एक सशक्त धारा ऐसे लोगों की हो जो अंतर्राष्ट्रीयतावाद को वसुधैव कुटुम्बकम के नाम से भी पहचान सकें।

परिशिष्ट

भूमंडलीकरण का विकल्प

मेरा राजनीतिक प्रशिक्षण भारतीय समाजवादी आंदोलन में हुआ है। इसे हमने क्रांतिकारी समाजवादी आंदोलन का नाम दिया हुआ था। लोकतांत्रिक समाजवादी कहने की जगह हम खुद को सिर्फ समाजवादी कहा करते थे। इसके पीछे मान्यता यह थी कि लोकतंत्र के बिना समाजवाद हो ही नहीं सकता। इसलिए हम जो कुछ करते-सोचते रहे हैं, लोकतंत्र उसका एक केंद्रीय तत्व रहा है। जैसे लोकतंत्र शासन की एक पद्धति का नाम है, जिसमें सत्ता न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के बीच बंटी होती है। पद्धति को चुनाव और राजनीतिक दलों के जरिए वैधता मिलती है। पर नए सामाजिक आंदोलन ने लोकतंत्र को ज्यादा गहरा और व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया है। इस गहन समझ के अनुसार लोकतंत्र प्रत्येक व्यक्ति को अंतर्भूत रूप से महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके लिए लोकतंत्र एक खूबसूरत सपने का नाम है।

हम एक अपूर्व क्रांति के युग में जी रहे हैं। पिछली सदी ने मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं को पुनर्परिभाषित करने के लिए अपार मानवीय ऊर्जा का विस्फोट किया था, इसलिए आज दुनिया

बदलावों की एक पूरी नयी श्रृंखला शुरू करने के मुहाने पर है। मनुष्य जाति के इतिहास में आज से ज्यादा लोगों ने स्वराज्य अर्थात् स्वशासन के लिए कभी काम नहीं किया था।¹ इन लोगों के लिए स्वराज्य का विचार सिर्फ राजनीतिक संदर्भों अर्थात् शासन-भर के लिए न होकर जीवन से जुड़े व्यापक और समग्र मामलों के संदर्भ में है। आज यह 'समग्र' लोकतांत्रिक आंदोलन अपना रूप ग्रहण कर रहा है। लोग अपने सभी बुनियादी संबंधों, जैसे प्रकृति और मनुष्य का संबंध, मनुष्य का और समुदाय का अंतःसंबंध, 'स्व' और 'पर' के बीच का अंतःसंबंध, व्यक्ति और शासन के ढांचे के विभिन्न समूहों या स्तरों के बीच का संबंध और व्यक्ति तथा समुदाय के बाजार के साथ संबंधों को फिर से परिभाषित करने का प्रयास कर रहे हैं। ये सभी मानव-जीवन के अलग-अलग क्षेत्रों से संबंध रखते हैं और इनके बीच लोकतांत्रिक संबंध बनाना या उसे व्यावहारिक रूप देने को हम पारिस्थितिकीय लोकतंत्र, सामाजिक लोकतंत्र, सांस्कृतिक लोकतंत्र और आर्थिक लोकतंत्र कह सकते हैं। लोकतंत्र के इन पांचों अंगों या पहलुओं को किसी एक विचारधारा या क्षेत्र में नहीं समेटा जा सकता। प्रकृति और मनुष्य के संबंधों पर आधारित स्वराज्य या स्वशासन से जुड़े मुद्दों ने दुनिया-भर में 'ग्रीन' पार्टियों, समूहों, आंदोलनों और बौद्धिकों को पैदा किया है। पर्यावरण के मुद्दों को प्रमुखता देने वाले आंदोलन, दुनिया के समृद्ध देशों में भी उभरे और मजबूत हुए हैं। भौतिक सुख-साधनों से समृद्ध समाजों में भी 'हरित चेतना' जगाने और पर्यावरण के विनाश की चुनौती का सामना करने का मसला बड़े जोर-शोर से उभरा है। अधिकांश देशों में आंदोलन करने वाले समूह पर्यावरण और सांस्कृतिक चेतना जगाने के साथ ही प्रकृति से जुड़ी जीवन-पद्धति को बचाने के आंदोलन में लगे हैं। चूंकि इन आंदोलनों की ऊर्जा प्रकृति और मनुष्य के अंतःसंबंधों के बारे में फैसला करते समय स्थानीय समुदायों की व्यापक भागीदारी का आग्रह करती है, इसलिए हम आज के युग को पारिस्थितिकीय लोकतंत्र के लिए प्रयासरत युग के रूप में चिन्हित कर सकते हैं।

इसी प्रकार व्यक्ति और समुदाय के अंतःसंबंधों को पुनर्परिभाषित करने में भी आज बहुत बड़ी मानवीय ऊर्जा लगी हुई है। अनेक मानवाधिकार समर्थक, लैंगिक-विषमता विरोधी, जाति विराधी, रंगभेद विरोधी समूहों की कार्यसूची में मनुष्य के सम्मान का प्रश्न केंद्रीय बना हुआ है। सामाजिक संबंधों को पुनर्परिभाषित करने की हलचल दुनिया-भर में है और इसे सामाजिक लोकतंत्र का नाम दिया जा सकता है। मैं जिस क्रांतिकारी ऊर्जा के विस्फोट की बात कर रहा हूँ उसका एक संकेत डरबन में हुए रंगभेद विरोधी सम्मेलन के प्रति सैकड़ों समूहों की उत्सुकता से मिला था। आज महिला आंदोलन सभी मुद्दों पर 'लैंगिक परिप्रेक्ष्य' के साथ मुखर है। वह केवल महिलाओं के हक का आंदोलन नहीं रह गया है। इस हिसाब से देखें तो यह सामाजिक लोकतंत्र की तरफ बढ़ते संघर्षों का युग है।

अगर हम 'स्व' और 'पर' अर्थात् 'अपने' और 'पराये' के बीच अंतःसंबंधों से जुड़ी चर्चा को संस्कृति की बृहत्तर परिभाषा के दायरे में देखेंगे तो इस मामले में अपूर्व कोलाहल, नए विचार और सिद्धांत, हिंसक और अहिंसक टकराव दिखायी देगा। 'आधुनिकता' और औद्योगिक रूप से विकसित समाजों की आलोचना, ज्ञान की स्थनीय परंपराओं को पुनर्जीवित करने की मुहिम और कठमुल्लावाद की जकड़न तोड़ने की कोशिशें इसी दिशा में होने वाले प्रयासों का हिस्सा हैं। औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए अधिकांश देशों ने जब अपनी आर्थिक बागडोर खुद संभाली तो भले ही उनमें से कुछ देशों में बहुत तेज गति से विकास नहीं हुआ, पर लगभग सभी देशों में जीवन-स्तर सुधरने लगा। देशज लोगों का प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित आर्थिक जीवन हो या अधिकांश समाजों के छोटे-मंझोले किसान हों, सभी अपनी आर्थिक जरूरतों के लिए सम्मानजनक कमाई का तरीका ढूँढने लगे। इसमें एक तरीका तो समृद्ध और अमीर उत्तरी देशों की अंधी नकल करना है। लेकिन, किसानों, चिकित्सा, भोजन, जल-प्रबंधन वगैरह की देशज या स्थानीय ज्ञान-पद्धतियों की तरफ वापस मोड़ने का प्रयास करने वाले भी कम नहीं हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ आर्थिक

जीवन में लोकतांत्रिक व्यवस्था लाने की व्यापक चाहत को ही व्यक्त करती हैं।

अधिकतर राष्ट्रों में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों ने नयी राजनीतिक पहचानों को जन्म दिया है। स्वशासन या स्वराज की मूल इच्छा के साथ ही लोग औपनिवेशिक शासन के उपकरणों पर भी गंभीर सवाल उठा रहे हैं। कई बार इन देशों के शासक समूह विभिन्न तानाशाहियों के माध्यम से लोगों की इस इच्छा का दमन भी करते हैं।

सौभाग्य से राजनीतिक व्यवस्था में ज्यादा से ज्यादा लोगों की भागीदारी आज काफी वैधता हासिल कर चुकी है। यही कारण है कि उनके तानाशाहों को अपने शासन के लिए किसी न किसी तरह से अपने यहां के लोगों से वैधता पाने की, आधी-अधूरी ही सही, कोशिश करनी पड़ती है। लोकतांत्रिक क्रांति का क्रिया भाव हमारे लिए यह जरूरत पैदा करता है कि हम इस समस्त लोकतांत्रिक ऊर्जा को पहचानें। खुद को इसके सकारात्मक पहलुओं से जोड़ते हुए इसे स्पष्ट वैश्विक नजरिए से एकजुट करें और एक स्पष्ट विश्व-दर्शन और भविष्य का सपना गढ़ने में सहायक बनें। सर्वहितवादी मानवतावादी भूमंडलीकरण का हमारा यही नजरिया है।

उलटा भूमंडलीकरण

लेकिन आज हमें जो भूमंडलीकरण दिखायी दे रहा है, वह ठीक उल्टी चीजों के एकजुट होने का नतीजा है। यह एक प्रभुत्वकारी भूमंडलीकरण है जिसे सिर्फ शैतानी शक्ति के रूप में ही पहचाना जा सकता है।^१

दक्षिण एशिया के लिए भूमंडलीकरण और इससे जुड़ी नवउदारतावादी नीतियों की सामाजिक लागत काफी अधिक है। आगे हालत और भी खराब होगी। आजादी से लेकर नब्बे के दशक की शुरुआत तक भारत में शिशु मृत्यु-दर में धीमी पर निरंतर गिरावट आ रही थी और औसत आयु में भी काफी सुधार हुआ था। नब्बे के दशक के पहले हिस्से में शिशु मृत्यु-दर की गिरावट कम हुई और फिर रूक गयी। कई

पब्लिक हेल्थ विशेषज्ञों का मानना है कि यह कोई तात्कालिक बदलाव न होकर आने वाले दौर के खतरों का सूचक है। मौजूदा नीतियों की दिशा न बदली गयी तो यह खतरा मुँह बाए खड़ा है। पूरे नब्बे के दशक में दनादन भारत पहुंचने वाली विदेशी कंपनियों, आधुनिक तकनीकों और नवउदारतावादी नीतियों ने बड़े पैमाने पर घरेलू और लघु उद्योगों का नाश किया है। इसमें ग्रामीण आबादी का काफी बड़ा हिस्सा बेरोजगार हो गया है और रोजगार के अन्य अवसर उपलब्ध न होने के चलते ये सारे लोग भी खेतिहर मजदूर के रूप में काम करने को विवश हुए हैं। चूँकि इस क्षेत्र में पहले से ही ज्यादा लोग काम कर रहे थे, इसलिए वहां की कमाई और अवसर कम हो गए हैं। इसका सबसे बुरा असर दलितों पर पड़ने वाला है। भूमिहीन मजदूरों में उसका हिस्सा काफी बढ़ा है। पहले आरक्षण के चलते उनके बीच से कुछ लोग ऊपरी नौकरियों में पहुंच जाते थे। अब निजीकरण के परिणामस्वरूप सरकारी नौकरियों की संख्या नगण्य रह गयी है। निजी क्षेत्र की सामाजिक न्याय के प्रति कोई वचनबद्धता न होने से दलितों की गतिशीलता कम होती जाएगी। समाज कल्याण के कार्यों से सरकार के हाथ खींचने का भी दलितों के ऊपर ही सबसे ज्यादा असर पड़ेगा। स्वास्थ्य प्रणाली में गिरावट आयी है।

भूमंडलीकरण की मार भूमिहीन या लगभग नगण्य भूमि वाले मजदूरों पर काफी बुरी पड़ी है। ठीक-ठाक जमीन वाले किसान भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। आज भारतीय किसान किसी भी दौर की तुलना में ज्यादा कर्जे के बोझ के नीचे दबा हुआ है। भूमि की खरीद-फरोख्त का प्रस्तावित कानून, जो मौजूदा भूमि सुधार कानून को समाप्त करने के साथ ही एक व्यक्ति द्वारा अधिकतम जमीन रखने की हदबंदी को भी बेमानी बना देगा, किसानों की स्थिति को बदतर बनाएगा। अगर विश्व व्यापार संगठन के नए दौर की बातचीत खेती से जुड़ी चीजों के व्यापार को और उदार करने की तरफ गयी तो स्थिति और भी ज्यादा बिगड़ेगी। उत्तर के देशों में किसान कुल आबादी का मात्र 3 फीसदी हिस्सा है, जबकि दुनिया-भर में उसका हिस्सा लगभग

50 फीसदी है। फिर भी सारे कृषि संबंधी नियम दुनिया के इस भाग की 0.5 फीसदी आबादी का नेतृत्व ही तय कर रहा है। आयात पर मात्रात्मक पाबंदियों और आयात शुल्क के बिना भारतीय किसान भारी सबसिडी पर फलने-फूलने वाले अमेरिकी किसानों से स्पर्धा नहीं कर सकते। किसानों की ऋणग्रस्तता ने भारत के कई प्रदेशों में किसानों द्वारा आत्महत्या करने का दौर शुरू कराया है जो उनकी परेशानियों की पराकाष्ठा बताता है। अगर भारत में यूरोपीय संघ, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और अमेरिका से आए सस्ते दूध के उत्पादों और सस्ते अनाज के आयात की बाढ़ जारी रही तो अनेक ग्रामीण इलाकों में स्थिति और विस्फोटक हो जाएगी।

इसके साथ ही उन कानूनों को भी बदला जा रहा है जो अभी तक देश के आठ करोड़ आदिवासियों के अधिकारों और आजीविका की रखवाली करते थे। व्यवहार में भले ही ये शत-प्रतिशत प्रभावी न हों पर आदिवासियों की स्वीकृति के बिना वन्य पदार्थों का व्यापार और खनन करने वाली कंपनियाँ इन क्षेत्रों में प्रवेश नहीं कर सकती। वन कानून आदिवासियों को अनेक ऐसे लघु वनोपयोगों का हक प्रदान करते हैं जिनका उनके जीवन में बहुत महत्त्व है। अब इन कानूनों की जगह भी अधिक बाजारोन्मुख कानून लाए जा रहे हैं। नेपाल में जिन वैधानिक उपायों ने सफल सामुदायिक वन कार्यक्रम की जमीन तैयार की, उन्हें अब विश्व बैंक के दबाव में उल्टा जा रहा है।

इस भूमंडलीकरण का 'पहली दुनिया' के लिए क्या मतलब है, यह बात सोसाइटी फार इंटरनेशनल डेवलपमेंट, रोम के लिए तैयार की गयी रिपोर्ट में फैंक एमालरिक ने विस्तार से बतायी है। रिपोर्ट में एक जगह वे लिखते हैं: "यह प्रक्रिया अत्यधिक उत्पादन क्षमता ने ही पैदा की है जिसके चलते निजी क्षेत्र के कर्ताधर्ता अपने आर्थिक हितों को बढ़ाने के लिए राजनीतिक समाधान ढूँढ़ने निकले हैं। दूसरी चीज है राजसत्ता का प्रयोग करके आंतरिक समस्या को बाहरी बनाना और बाहरी देशों पर लादना, क्योंकि विश्व व्यवस्था का लोकतांत्रिक विमर्श ज्यादा मजबूत नहीं है।"

भूमंडलीकरण के मौजूदा स्वरूप में फरेबों और ढोंगों की भरमार है। भूमंडलीकरण के पीछे काम करने वाली तिकड़ी, विश्व बैंक—अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—विश्व संगठन, वस्तुओं और सेवाओं के 'उपभोक्ताओं के लिए सारे सरकारी नियंत्रणों और अनुदानों को हटा कर बाजार की शक्तियों को खुलकर खेलने देने की वकालत करती है। साथ ही यह तिकड़ी चाहती है कि सरकारें, बाजार के लाभ की व्यवस्था को अपने खर्च से चलाएं। इस मामले में भारत में आए एनरॉन (दाभोल पावर कॉरपोरेशन) का उदाहरण देखा जा सकता है। एनरॉन का दावा था कि 'भ्रष्ट और अक्षम' राज्य बिजली बोर्डों की तुलना में ज्यादा सक्षमता से बिजली तैयार कर सकता है। लेकिन असलियत यह थी कि उसकी बिजली उत्पादन लागत प्रति यूनिट बहुत ऊंची थी। उसे अपना उत्पाद बेच पाने और यहां निवेशित रकम पर वांछित कमाई करने के लिए राज्य—केंद्र सरकारों से काउंटर गारंटी की शर्तों के आधार पर मोटी रकम भी हासिल करनी थी। सरकारें यह रकम गरीब करदाताओं से ही जुटा सकती थीं। क्या विश्व बैंक—अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—विश्व व्यापार संगठन की तिकड़ी को मुक्त बाजार का पाठ एनरॉन को भी नहीं पढ़ाना चाहिए था? मुक्त बाजार की शर्तों के अनुरूप काम न कर पाने की एनरॉन की 'अक्षमता' का बोझ सरकारों को क्यों उठाना चाहिए था यह तिकड़ी आर्थिक मामलों में सरकार की भूमिका कम करने की वकालत भी करती रही है। जब हमारी राज्य सरकार एनरॉन के भारी खर्चों को चलाने में अपना धन देने में झिझकी, तो भारत में अमेरिका सरकार के प्रतिनिधि ने धमकी दी कि अगर हमने एनरॉन के भारी खर्च में अपना अनुदान देना बंद कर दिया तो भारत में विदेशी निवेश नहीं आएगा। दुनिया—भर में एनरॉन जैसी कंपनियाँ अपने कुलीन राजनीतिक सहयोगियों के साथ सरकारी काम—काज में पारदर्शिता और जवाबदेही के साथ—साथ आर्थिक लेन—देन में किसी किस्म का भ्रष्टाचार न होने का भाषण देती फिरती हैं। लेकिन, यही एनरॉन 'जनशिक्षा' के नाम पर 'वैध' ढंग से हजारों डालर की रकम दाभोल परियोजना हासिल करने के सिलसिले में बाँटती है। इससे ज्यादा बड़ा छल और क्या होगा? 'जनशिक्षा' की यह फीस देने के

बाद भी एनरॉन का करार किसी नियमित सरकार के साथ नहीं हुआ। यह करार 13 दिन की उस सरकार ने किया जो संसद में स्पष्ट बहुमत न होने के चलते अपनी विदाई के दिन गिन रही थी।

आर्थिक भूमंडलीकरण ने दुनिया-भर में लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया के लिए नयी और गंभीर चुनौतियाँ खड़ी की हैं। बड़े मुद्दों पर फैसला लेने का अधिकार विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन जैसी बहुराष्ट्रीय संस्थाओं अर्थात् राष्ट्रातीत संस्थाओं के हाथों में चले जाने से राष्ट्रीय सरकारों की संप्रभुता बुरी तरह घटी है। इसका सबसे खतरनाक परिणाम यह हुआ है कि किसी भी राजनीतिक प्रणाली में सरकार की अपने नागरिकों के प्रति जवाबदेही का कोई खास मतलब नहीं रह गया है। फ्रैंक एमालरिक के अध्ययन में बताया गया है: "राष्ट्रीय संस्थाओं ओर नीतियों को प्रभावित करना इन विकास संबंधी नयी नीतियों का खुला उद्देश्य हो गया है। राष्ट्रीय स्तर पर विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष 'अच्छे शासन' के नाम पर, जो इन संगठनों की तकनीकी प्रकृति के हिसाब से बढ़िया तकनीकी मार्का बन गए हैं, इन सरकारों के कामकाज में दखल देते हैं और द्विपक्षीय ऋणदाता 'लोकतंत्र' और 'सहभगिता' के नाम पर हस्तक्षेप करते हैं। यह प्रवृत्ति यूरोपीय संघ की नीतियों के मामले में ज्यादा स्पष्ट दिखती है। यूरोप-भूमध्यसागरीय सहयोग, जो भूमध्यसागर के पास बसे देशों के साथ हुआ समझौता और दूसरी ओर यूरोपीय संघ में शामिल होने के लिए पूर्वी यूरोपीय देशों के लिए रखी गयी शर्तें भी इसी का उदाहरण हैं।"

मौजूदा स्थिति में अब इस बात का कोई खास मतलब नहीं रह गया है कि सरकार किस पार्टी या किस गठबंधन की है। अलग-अलग दलों के गठबंधनों की सरकारों को भी दबाव के चलते निजीकरण, व्यापार और निवेश नीतियों में उदारता और सबसिडी घटाने समेत लगभग एक जैसी नवउदारतावादी नीतियों पर ही चलना पड़ता है। भारत में कांग्रेस पार्टी ने 1991 में सत्ता में रहते हुए 'ढांचागत समायोजन' की नीतियों के साथ इस नवउदारतावाद की शुरुआत की,

लेकिन विपक्ष में आते ही अब वही निजीकरण और उदारीकरण के खिलाफ बोलने लगी है। इसी प्रकार भारतीय जनता पार्टी जब कांग्रेस सरकार और उसके बाद कांग्रेसी समर्थन से बनी मोर्चा सरकार का विरोध कर रही थी, तब वह भूमंडलीकरण के खिलाफ बहुत तेज जुबान में बोलती थी, स्वदेशी की वकालत करती थी और विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बहिष्कार का नारा लगाती थी। आज गठबंधन सरकार के सबसे बड़े घटक के रूप में भाजपा कांग्रेस से भी ज्यादा नवउदारतावादी और भूमंडलीकरण की पक्षधर बन गयी है। उसके इस तरह पलट जाने से मुख्य धारा की राजनीतिक पार्टियों की विश्वसनीयता का बड़ा भारी संकट खड़ा हो गया है।

इसी कारण से लोकतांत्रिक निर्णय लेने की प्रक्रिया में संकट पैदा हो गया है, क्योंकि नवउदारतावादी नीतियाँ, मतदाताओं के बहुमत की इच्छा के खिलाफ लादी गयी हैं। दूसरे, लोकतंत्र का संकट भ्रष्टाचार की समस्या से भी काफी बढ़ गया है। विश्व बैंक के एक प्रमुख अधिकारी के अनुसार बीते दशक में भ्रष्टाचार साल-दर-साल दो गुना होते जाने की रफ्तार में बढ़ा है और नब्बे के दशक में इसमें कम से कम दस गुना इजाफा हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों और सार्वजनिक सेवाओं के निजीकरण ने और राष्ट्रीय बाजारों में बहुराष्ट्रीय निगमों के आगमन ने सरकारी मदों के दुरुपयोग और भ्रष्टाचार की बहुत ज्यादा गुंजाइश बना दी है। अगर उत्तर के देशों वाले अपने यहां से संचालित होने वाले भ्रष्टाचार (जिसका एक उदाहरण एनरॉन के संदर्भ में पहले दिया जा चुका है) हमें मुक्त कर दें तो हम दक्षिण के लोग अपने यहां के भ्रष्टाचार और सांप्रदायिकता से स्थानीय स्तर पर बहुत अच्छी तरह से लड़ लेंगे। भूमंडलीकरण का मौजूदा दौर शुरू होने के पहले से ही दक्षिण एशिया के लिए भ्रष्टाचार एक बड़ी समस्या थी, लेकिन राजनीतिक और पेशेवर जीवन में नैतिकता और लाज-लिहाज खत्म होने से इसमें भयानक तेजी आ गयी है। इन सारी समस्याओं का निदान कैसे होगा? आज दुनिया-भर में जो सकारात्मक ऊर्जा दिखायी दे रही है, उसे समेट कर ऐसा मानवतावादी-सर्वहितवादी

भूमंडलीकरण कैसे गढ़ा जाय जिससे सभी स्तरों पर मानव समाज प्रभावी ढंग से लोकतांत्रिक बने?

लोकतांत्रिक सपने के लिए : वसुधैव कुटुंबकम् की पहल

आज के युग में उभरे 'सर्वहितवाद' और 'लोकतंत्र' के विभिन्न रूप दक्षिण एशिया के लोगों के लिए लंबे समय से बुनियादी मूल्य रहे हैं। औपनिवेशिक शासन से पहले भी हमारी सांस्कृतिक-राजनीतिक व्यवस्था में नीचे से लेकर ऊपर तक भागीदारी वाली शासन प्रणाली थी। सभी स्तरों पर राजनीतिक सत्ता का बंटवारा था और हमारी संस्कृति तो बहुलतावादी थी ही। छुआछूत जैसी बुराई या जाति व्यवस्था के सामुदायिक पक्ष का केवल ऊंच-नीच तक पतित हो जाने-जैसी नकारात्मक चीजें भी हमारे यहां रही हैं। लेकिन, इन गलतियों और विफलताओं के साथ ही अनंत काल से 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना भी हमारी सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा रही है। इसी के चलते हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता शक्ति का स्रोत भी रही है। निस्संदेह बीच-बीच में वैचारिक या पहचान में एकरूपता लाने की कोशिश वाले दौर भी चले हैं, लेकिन जल्दी ही बहुलतावादी दृष्टिकोण वापस प्रभावी हो गया। इस विश्वदृष्टि का बुनियादी सिद्धांत है कि कोई भी संप्रदाय, धर्म, वैचारिक समूह वर्ग, सामाजिक-राजनीतिक ढांचा, शासन या 'चर्च' सत्य के ऊपर एकाधि कार का दावा नहीं कर सकता। मनुष्य का हर 'सत्य' अधूरा-एकांगी है।

इतिहास जब भी करवट लेता है तो वह नए युग की शुरुआत कर सकता है या अंधकार युग में भी धकेल सकता है।³ आज अंधकार की ओर ले जाने वाली ताकतें कौन हैं? इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और निहित स्वार्थों के धन पर आधारित इंटरनेट के जरिए 'उपभोक्ता के स्वर्ग' को धरती पर उतारने का वादा किया जा रहा है। इसमें आर्थिक समानता, पारिस्थितिकीय संवेदनशीलता, सांस्कृतिक बहुलवाद या दबे-कुचले लोगों के स्वाभिमान की बातें एकदम ही भुला दी गयी हैं। पूरी दुनिया में इस भूमंडलीकरण के प्रति एक अजीब किस्म की पागल दौड़

दिखायी देती है। व्यक्ति स्वातंत्र्य की बातें करते हुए मितव्ययता के महत्त्व, समाज में सबके भले की बातें, प्राकृतिक और अन्य संसाधनों पर आने वाली पीढ़ियों के हक तथा दबे-कुचले समुदायों के हितों का ध्यान रखने की बातें, आज बाबा आदम के जमाने की चीजें मानी जाती हैं। इससे मानव समाज में बिखराव और एक अलग तरह का ध्रुवीकरण हो रहा है। पर इस प्रतिक्रिया और सांस्कृतिक पहचान की स्वायत्तता, जातीय पहचान या सामाजिक स्वाभिमान के प्रामाणिक आग्रहों के बीच फर्क करना जरूरी है।

ऐसी सामाजिक-राजनीतिक शक्तियाँ जिनकी विश्व-दृष्टि इतिहास की एक विकृत समझ (जैसे 'सभ्यताओं के संघर्ष' की सैमुअल हंटिंग्टन की थीसिस) पर आधारित है, आज मौजूदा 'पागल दौड़ रोग' का शिकार हो रही है। इन शक्तियों का सामाजिक आधार मानता है कि वे लोग जीवन-मरण के संघर्ष में लगे हुए हैं। मौजूदा संकट के बारे में भी इन ताकतों की एक दृष्टि है। इसमें सामान्य आदर्श सिद्धांतों को एक बाधा ही माना जाता है। अनुदारतावाद और परंपरावाद के बीच का भेद मिटा दिया जाता है और मध्यममार्ग को लोकतांत्रिक आचरण के रूप में नहीं देखा जाता। इन 'सतायी गयी शक्तियों' और संगठनों के चुनावी नेतृत्व का आखिर में अलोकतांत्रिक और अनैतिक बलों में रूपांतरण हो जाता है। उनके इस आचरण से खुश उनका ही समाज बंटता और भारी नुकसान सहता है। अपने समाज के, या अन्य समाजों के, बुरे अनुभवों से सीखने की क्षमता इस नेतृत्व में एकदम समाप्त होती जा रही है। वैश्विक रूप में हमारे दौर की सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौती तरह-तरह के कठमुल्लावाद की तरफ से उठ रहे खतरे से लड़ने की है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लोकतंत्र का समग्र विस्तार और विकास ही हर तरह के कठमुल्लावाद से लड़ने की असली दवा है। लोकतंत्र ही मनुष्य जाति की प्रवृत्तियों और जरूरतों के बीच तालमेल बैठाने वाली सबसे सशक्त विचार एवं व्यवस्था है। अभी तक समाज के वैश्विक मानवीय मूल्यों को जोड़ने का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ढांचा राजनीतिक लोकतंत्र ही है।⁴

विभिन्न राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर अभी तक चले विचार-विमर्श के आधार पर लोगों ने सामान्य मूल्यों और लक्ष्यों वाले लोगों और समूहों का वैश्विक नेटवर्क विकसित करने पर विचार करना शुरू कर दिया है। ऐसी पहल को अंतर्राष्ट्रीय नागरिक समाज द्वारा अनेक मुद्दों पर वैश्विक या क्षेत्रीय संवाद की प्रक्रिया शुरू करने के प्रयास के रूप में भी देखा जा सकता है। ऊपर मानवीय जीवन के जिन पांच बुनियादी पहलुओं की चर्चा की गयी है, वे लोकतंत्र के सवाल पर एक अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क खड़ा करने का सैद्धांतिक आधार बन सकते हैं। स्पष्ट कहें तो लोकतंत्र को, जो मानवजाति के अपने भले के लिए रचनात्मक ढंग से जुड़ने की प्रक्रिया है और जिसे टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता, ऐसे खेमों और श्रेणियों में बांटकर देखना या चर्चा करना कोई बहुत सुखद अनुभव नहीं है। लेकिन, लोकतंत्र नामक विचार से जुड़ी जटिलताओं को इन पांच पूर्वोक्त पहलुओं से समझने की कोशिश हमें समस्याओं और संभावनाओं के अनंत द्वार दिखा सकती है :

1. दरिद्रनारायण का सशक्तीकरण (आर्थिक लोकतंत्र) : दरिद्रनारायण की चिंता कोई नयी बात नहीं है। माल और सेवाओं के आदान-प्रदान में, वस्तुओं के उत्पादन और उत्पादन संबंधों में, प्रौद्योगिकी के चुनाव जैसे सभी कामों में मानव-जाति इस पहलू का ध्यान रखती आयी है। आगे भी ऐसा ही किया जाना चाहिए। इन सारे मुद्दों को लोकतंत्र का आर्थिक पहलू अर्थात् आर्थिक लोकतंत्र कहा जा सकता है।

2. प्राकृतिक संसाधनों पर समाज का स्वामित्व और पारिस्थितिकीय पुनरुद्धार (पारिस्थितिकीय लोकतंत्र) : पर्यावरण का नाश या गिरावट आज के दौर की एक सबसे गंभीर समस्या है। हवा, पानी और मिट्टी का बढ़ता प्रदूषण, अनेक जैव प्रजातियों का नाश, जैव विविधता में कमी, आजोन परत की क्षति, मौसम का मिजाज बदलना, पृथ्वी से पेड़-पौधों का कम होना अर्थात् हरियाली की चादर का सिमटना, भू-क्षरण और रेगिस्तान का बढ़ना जैसे सारे मसले इसमें

आते हैं। किसी भी आंदोलन के लिए यह प्राथमिकता वाला मुद्दा होना चाहिए। लेकिन, इस संदर्भ में पश्चिम और दक्षिण देशों में काम कर रहे पश्चिमपरस्त समूहों में जो सोच-विचार चल रहा है, काम करने की जो दिशा है वह स्थानीय (ग्रामीण) लोगों से एकदम नहीं जुड़ती। अगर हम बिना सोचे-समझे उसी दिशा में काम करने जाएंगे तो संभव है कि स्थानीय तौर पर लोग न तो उन्हें समझेंगे, न उनसे जुड़ेंगे। और फिर दीर्घकाल में ऐसे कार्यक्रमों का ठीक उल्टा असर भी हो सकता है। इसलिए बेहतर नजरिया यही है कि प्राकृतिक संसाधनों पर स्थानीय लोगों का ही नियंत्रण रहे और फिर उन लोगों को पर्यावरण के नाश के खतरों और और संरक्षण के लाभ जैसे मुद्दों पर सचेत करते हुए ऐसे सारे मसलों को आपस में जोड़ा जाय। प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता ग्राहक-विक्रेता का हो, या उसके नियंत्रण का हो, उसके संरक्षण का हो या नाशक का, ये सारे सवाल पारिस्थितिकीय लोकतंत्र के तहत ही आते हैं।

3. मानवीय गरिमा की गारंटी (सामाजिक लोकतंत्र) : इस बात में संदेह नहीं कि 'नवअनुदारों' द्वारा शुरू की गयी नवउदारतावादी आर्थिक नीतियों और अन्य कार्यक्रमों से इतने बड़े पैमाने पर दरिद्रता आएगी जितनी मानव इतिहास में कभी नहीं आयी। अधिकांश मामलों में बेरोजगारी या क्षमता और जरूरत से कम काम करने की स्थिति, अस्थायी रोजगार, मजदूरों के अधिकार, काम के अवसर और प्रकृति का सवाल, वैश्विक स्तर पर मानवीय आत्मसम्मान से जुड़े मामले हैं। नवउदारतावादियों की मेज पर गिरी जूठन भले ही लोगों की बुनियादी जरूरतों के हिसाब से काफी हो, लेकिन इस क्रम में मनुष्य होने के सम्मान भाव की बलि चढ़ जाती है। प्रभुत्वकारी नवउदारतावादी नीतियाँ लोभ पर टिकी हैं, वे उपभोक्तावाद और भौतिकवाद को बढ़ाकर अपना उल्लू सीधा करती हैं और लोगों को अपने आत्मसम्मान के अनुसार नैतिक फैसले लेने का विकल्प नहीं देतीं। वे मुनाफे के लिए मानवजाति के सम्मान को बलि का बकरा बनाती हैं। दलितों को, उनके नजरिए और अनुभव सहित शैतानी भूमंडलीकरण के खिलाफ

लड़ी जाने वाली लड़ाई के लिए आत्मसम्मान और सामाजिक समानता के संघर्ष को मुख्य मुद्दा बनाना होगा। दलितों की वस्तुगत स्थितियों ने ही बाबा साहेब अंबेडकर समेत अनेक दलित नेताओं-विचारकों को भारत में जाति-नाश आंदोलन चलाने की ओर प्रेरित किया (दक्षिण एशिया के शेष हिस्सों में विशिष्ट स्थानीय स्थितियों के चलते अभी यह एहसास भी नहीं जगा है कि यह सामाजिक असमानता का एक महत्वपूर्ण स्रोत है)। पिछले दो दशकों में अछूत जातियों के सशक्तीकरण को बड़ी जातियों द्वारा कबूल कर लिए जाने की स्थिति में बदलाव आया है। दलित चेतना के प्रसार के साथ ही बड़ी जातियों का रुख भी कठोर हुआ है। यही हाल महिलाओं में बढ़ती चेतना से भी पैदा हुआ। उनके खिलाफ हिंसा और दमन बढ़ा है। गर्भस्थ कन्या भ्रूणों तक की हत्या का बहुत साफ प्रमाण छः वर्ष तक की लड़कियों के अनुपात में आयी गिरावट है। इन मुद्दों को सामाजिक लोकतंत्र के बृहत्तर दायरे में उनकी पूरी जटिलताओं के साथ देखना चाहिए।

4. बहुलतावादी सहअस्तित्व संवर्द्धन (सांस्कृतिक लोकतंत्र)

: इस महाशताब्दी की शुरुआत में बहुलतावादी सहअस्तित्व के समर्थन और सांप्रदायिक (या जातीय) हिंसा पर रोक का महत्व दुनिया के हर हिस्से के लोगों के लिए बहुत बढ़ा है। जब दुनिया में आर्थिक और सांस्कृतिक संकट गहराता है तब सांप्रदायिक हिंसा का अंदेशा भी बढ़ जाता है। जिन इलाकों में पर्यावरण का नाश बहुत ज्यादा हो चुका होता है वहां प्राकृतिक संसाधनों के आधार की उपेक्षा करना समस्या को ज्यादा गंभीर बना सकता है। दक्षिण एशिया में विभिन्न धर्मों, उनके अनेक संप्रदायों और जातीय समूहों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की एक समृद्ध और जीवंत परंपरा अभी तक रही है। आज इस परंपरा पर संकट के बादल दिख रहे हैं, इसलिए इसमें नयी जान फूंकने की जरूरत है। जनवरी 2001 में बांग्लादेश में अदालती फैसले द्वारा फतवे पर रोक लगाना सांस्कृतिक लोकतंत्र का बहुत पुख्ता प्रमाण है। हिंदुओं में उन जनजातीय रस्म-रिवाजों को, जो ब्राह्मणवादी पोथियों में नहीं हैं, पर्याप्त सम्मान देना-दिलाना एक प्राथमिकता वाला काम

होना चाहिए।

फिर सांस्कृतिक लोकतंत्र के तहत ही यूरोप और अमेरिका समेत दुनिया-भर में इतिहास लेखन में की जाने वाली अनर्गल छेड़छाड़ के खिलाफ भी अभियान चलाया जाना चाहिए। यूरोप में आज मुसलमानों को दकियानूसी कौम या बहुलता विरोधी समूह के रूप में चित्रित करने का जोर है। इस्लामी देशों और पश्चिम (यूरोपीय संघ और अमेरिका) का ध्रुवीकरण 1990 के खाड़ी युद्ध जैसे प्रकरणों से ज्यादा तेज हुआ है और ये घटनाएं इस्लामी जगत में पश्चिम विरोधी भावनाओं को तेज कर रही हैं। यूरोपीय संघ का गठन, जो पुराने औपनिवेशिक शासक देशों का जमावड़ा है, स्थिति को बिगाड़ रहा है, क्योंकि इसे इस्लामी देशों के संभावित और मजबूत दुश्मन के रूप में देखा जा रहा है। जब यूरोपीय संघ सचमुच एक संघीय देश का रूप ले लेगा, एक प्रतिरक्षा नीति और एक संयुक्त फौज से काम लेने लगेगा, तब यह धारणा और पुष्ट होगी, क्योंकि तब तक नार्डिक देशों के आ जाने से इस संघ का आकार-प्रकार तो विशाल हो ही जाएगा, इसके पास परमाणु हथियारों का भी बहुत बड़ा जखीरा हो जाएगा और यह एक सामरिक अतिमहाशक्ति के रूप में उभरेगा।

5. लोकतंत्र का संरक्षण और संवर्द्धन (राजनीति लोकतंत्र)

: अगर राजनीतिक लोकतंत्र की निरंतर हिफाजत और रखवाली न की जाय तो इसका खुद-ब-खुद अवमूल्यन होता जाता है। अगर लोग लोकतांत्रिक ढांचे और परंपराओं की हिफाजत के प्रति मुस्तैद नहीं होंगे, तो सामाजिक प्रणाली की बुराइयों के दबाव से बचाने वाली सारी व्यवस्थाएं बेमानी हो जाएंगी। सबकी भागीदारी, प्रतिनिधित्व, कानून का शासन, सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक और राजनीतिक अल्पसंख्यकों के संरक्षण तथा राजनीतिक निर्णयों की पारदर्शिता जैसी चीजों से परिभाषित होने वाले लोकतंत्र को संभालना-संवारना पड़ता है। लेकिन, आज विभिन्न संस्कृतियों, परंपराओं और व्यवस्थाओं में रहने वाली पूरी दुनिया में लोकतंत्र सिर्फ एक ही मॉडल का है – पश्चिमी उदारतावादी या बाजारी लोकतंत्र, और यह दुनिया के एक बहुत छोटे

हिस्से की सांस्कृतिक—ऐतिहासिक घटनाक्रम की पैदाइश है। इसलिए इसे स्थानीय रूप देने की, पश्चिमी मान्यताओं के खिलाफ खड़ी होने वाली जो लहर दिखायी दे रही है, उसे हल्के तौर पर खारिज नहीं किया जा सकता। यह लहर इस्लामी उभार, हिन्दुत्ववादी आंदोलन के विकास और चीन के आर्थिक—सांस्कृतिक उत्थान के रूप में दिखायी देती है। अगर दक्षिण के समाजों की शासक जमातें या दमनकारी समूह, लोकतंत्र, मानवाधिकार या महिला अधिकारों को 'पश्चिमी मूल्य' बताकर बदनाम कर रहे हैं तो यह खतरा एकदम वास्तविक लगता है कि नयी सहस्राब्दी की पहली सदी में इन मूल्यों पर गंभीर चोट होगी, इनका महत्त्व घटेगा।

लोकतंत्र में कोई भी चीज ऊपर से तय नहीं होती। यहां संस्थान, विचार और विचारधारा, सबका निर्धारण लोगों द्वारा ही होता है। 24 मई 1999 को, राइट लाइवलीहुड अवार्ड विजेताओं की एक बैठक सेल्जबुर्ग में हुई वहां विश्व व्यापार संगठन जैसी कोई चीज बनाने की जगह थोड़ा रुक कर गंभीर आत्मपरीक्षण करने की जरूरत बतायी गयी। यह सुझाव दिया गया कि विश्व व्यापार संगठन के काम—काज को पांच वर्षों के लिए रोक दिया जाय और इसने मानवजाति के लिए क्या—क्या नुकसान किए हैं, इसकी जांच के लिए 'नागरिक आयोग' (सिटीजंस कमीशन) बनाया जाय और दुनिया—भर में, खासकर इस व्यवस्था से नुकसान उठाने वाले समाजों में, आपसी संवाद शुरू किया जाय।

उत्तर—दक्षिण नागरिक समाज संवाद चेतावनी

अनेक ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से हमारे समाज में अंतर्राष्ट्रीय अनुदान और चंदों पर चलने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं की वैधता बाहरी चंदे के बिना काम करने वाली आंदोलन में लगी जमातों से कम है। लेकिन, दलितों में काम करने वाले नागरिक समाज समूहों को कई तरह के कामों—दबावों में (जैसे स्थानीय दमन से लड़ना, विभिन्न घोषित नीतियों और कानूनों को लागू करवाना, भूमि सुधार, खेतिहर मजदूरों से जुड़े मसले, दलितों का दमन वगैरह) लगाना

होता है कि वे जीवन-संचालन, उसकी पहचान और आत्मसम्मान के मुद्दों को भूमंडलीकरण जैसे बड़े मसलों के साथ जोड़ कर नहीं देख पाते। एक दूसरी जटिलता यह है कि भूमंडलीकरण के खिलाफ चलने वाले संघर्षों की भाषा, उनके मुहावरे और संकेत ऐसे हैं जो दलितों के मन को छुए बगैर ऊपर-ऊपर ही निकल जाते हैं। जब तक हम हर संभव बौद्धिक, वित्तीय, मनुष्य-बल, नैतिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक संसाधनों को इस संघर्ष के लिए नहीं संजोएंगे, ऐसी लड़ाइयाँ लड़ पाना संभव ही नहीं होगा। यह दुखद सच्चाई है कि भूमंडलीकरण की सबसे बुरी मार झेलने वाले लोग इसे अपनी पहली लड़ाई बना पाने की स्थिति में भी नहीं हैं। स्थानीय स्तर पर तो बहुत साफ श्रेणियाँ बनाकर उन्हें सबसे नीचे रखा गया है और ये स्थितियाँ ऐसे संघर्ष की संभावना भी समाप्त कर देती हैं।

अभी तक प्राकृतिक संसाधनों पर अपना जीवन बसर करने वाले आदिवासी लोग भी इस मार से सबसे ज्यादा प्रभावित होने वालों में हैं। मैंने इसी आलेख में उनकी स्थिति का जिक्र कहीं और किया है। फिर भी उनके बीच से निकली राजनीतिक पार्टियाँ भी वैश्विक सरकार के शैतानी तर्क की गुलाम हैं। इस तर्क के अनुसार अधिकांश राष्ट्र-राज्यों के शासकों को अपने लोगों के हितों को भूलकर, अपनी नीतियों को ऐसा बनाना चाहिए जिससे उन्हें ज्यादा से ज्यादा अंतर्राष्ट्रीय विकास-अनुदान और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश मिल सके।

आदिवासियों के बीच काम करने वाले नागरिक समाज समूह भी प्रायः स्वयंसेवी संगठनों की तरह ही काम करते हैं। चूँकि एकदम नग्न सच्चाइयों से जूझना पड़ता है, इसलिए मौजूदा वैकासिक मॉडल और भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों की उनकी समझदारी बहुत अच्छी और स्पष्ट है। इन समूहों के अपने नेटवर्क भी हैं। भूमंडलीकरण विरोधी संघर्ष में इन समूहों को विभिन्न स्तरों पर जोड़ना न सिर्फ आसान होगा, बल्कि जरूरी और स्वाभाविक भी होगा। लेकिन, ये सभी स्वयंसेवी संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले सत्ता के खेल को ठीक से नहीं समझतीं। मसलन इन आदिवासी समूहों में विज्ञान और

तकनीक की कई देसी और उच्चस्तरीय परंपराएं आज तक चली आ रही हैं, जिनकी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ या उनकी तरफ से काम करनेवाले स्वयंसेवी संगठन गोपनीय ढंग से चोरी कर रहे हैं। मुश्किल यह है कि विज्ञान और तकनीक पर हावी पश्चिमी नजरिया, देसी वैज्ञानिकों और शोध संस्थानों पर भी इतना हावी हो चुका है कि वे भी अपने पारंपरिक ज्ञान और विज्ञान की उपेक्षा करते हैं। और अनुसंधान तथा विकास के अपने कार्यक्रम में उन्हें नहीं समेटते। विज्ञान के समाजशास्त्र के अध्येता शिव विश्वनाथन ने एक अंतर्राष्ट्रीय आयोजन में यह सुझाव दिया था कि दक्षिण अफ्रीका के 'ट्रुथ एंड रिकंसिलेशन आयोग' की तरह आधुनिक विज्ञान और तकनीक द्वारा किए गए नुकसानों के अध्ययन के लिए भी एक आयोग का गठन किया जाना चाहिए। आधुनिक तकनीक के असर की संपूर्ण सच्चाई जानने के लिए उत्तर और दक्षिण के नागरिक समाजों को मिलजुल कर प्रयास करना चाहिए।

इस मामले का एक और उल्लेखनीय पहलू यह है कि भारत में देसी तकनीकों से जुड़े समुदाय प्रायः धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय ही हैं और इन्हें भारत समेत सारे विश्व में कठमुल्लावाद और अनुदार विचारों के उभार के चलते अपनी पहचान बचाने और सुरक्षा के सवाल से भी जूझना पड़ रहा है। भारतीय नागरिक समाज की ऐसी विविधता की चर्चा स्पष्ट कर देती है कि राष्ट्रीय स्तर से लेकर एकदम निचले स्तर तक विभिन्न सामाजिक समूहों को जोड़ कर एक संपूर्ण लोकतांत्रिक संघर्ष खड़ा करके ही हम भूमंडलीकरण विरोधी दृष्टिकोण और आंदोलन विकसित कर सकते हैं। उत्तरी देशों के नागरिक समाजों को इस क्रम में हमारे समाज के उन हिस्सों से अपना जुड़ाव बनाने वाली संस्थागत व्यवस्था दुरुस्त करनी होगी जहां अभी भूमंडलीकरण का असर बहुत ज्यादा नहीं पड़ा है। अस्सी के दशक के शुरू में किसान आंदोलन के सिद्धांतकार सुनील सहस्रबुद्धे जैसे लोग 'इंडिया' और 'भारत' के बीच अंतर किया करते थे। 'भारत' से उनका अभिप्राय समाज के उस हिस्से से था जिस पर औपनिवेशिक प्रभाव कम है या

जहां भूमंडलीय आधुनिक ज्ञान प्रणालियों और नेटवर्कों की पहुंच नहीं हो सकी है। इस बात पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है कि ये 'भारत' वाले लोग आज भी अपनी जड़ों से पूरी तरह नहीं कटे हैं और हमारे जैसे शहराती और आधुनिकता की पागल दौड़ में शामिल लोगों के मुकाबले अधिक संपूर्णता में जीवन व्यतीत करते हैं।

अभी तक उत्तरी नागरिक समाजों की तरफ से संवाद और मेलजोल की अधिकांश कोशिशें दक्षिण के देशों की उन 'बी' टीमों तक ही आकर रुक जाती हैं जो अपने यहां भी अमेरिकी उपभोक्ता स्वर्ग लाने के सपने में ही खोयी हुई हैं। उत्तर के लोकतंत्रवादियों को, खासकर वहां के नागरिक समाज के लोगों को 'इंडिया' और 'भारत' में फर्क समझना चाहिए, परंतु साथ ही उन्हें दक्षिण की बहुसंख्या को माई-बाप शैली में कृपा का पात्र मान कर देखने का नजरिया छोड़ना चाहिए। उन्हें अपने मन से यह विचार भी निकालना होगा कि वे 'इंडिया' और 'भारत' वाले विभाजन में 'इंडिया' की तरफ से 'गड़बड़ करने वालों' 'शोषकों' और 'भ्रष्टजनों' पर नजर रख सकते हैं और भारत के पक्ष में नीतियाँ मनवा सकते हैं। जब तक असमान राष्ट्र-राज्यों वाली राजनीति चल रही है तब तक दक्षिण के देशों की राजनीतिक प्रक्रिया की संप्रभुता को नजरंदाज करना वांछित नहीं होगा। राजनीतिक प्रक्रिया में गैर-चुनावी काम भी शामिल होते हैं। उत्तर के हमारे साथियों को यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि उनके संपर्क से हम बिना कोई जोखिम लिए ही नागरिक समाज के अधिक वास्तविक प्रतिनिधियों को दरकिनार कर बहुत ज्यादा ताकतवर हो सकते हैं। ऐसे अनेक स्वयंसेवी संगठनों का उदाहरण है जिन्होंने भूमंडलीकरण पर लोकतांत्रिक नजरिए से शुरू किया और बाद में पाला बदल कर विश्व बैंक की 'शासन व नागरिक समाज समिति' (गवर्नेंस एंड सिविल सोसाइटी वाली कमेटी) के सदस्य बन गए। यह दोष हम सिर्फ उत्तर के समूहों में ही नहीं देखते। बेहतर भावनात्मक आध्यात्मिक स्थितियों में भी कार्यकर्ताओं के समूह का एक हिस्सा थक जाता है।

हम दो मुद्दों को सामने लाना चाहते हैं। पहला, लोकतंत्र को नीचे

से देखने-समझने के लिए जरूरी है हम प्रत्येक स्तर की विशिष्टता मानें। दूसरा, हमें प्रत्येक तत्त्वों के अस्तित्व को न तो छोटा मानना चाहिए, न ही विभिन्न स्तरों के बीच घालमेल करना चाहिए। लेकिन, भूमंडलीकरण के युग में, जहाँ भूमंडलीकरण के शैतानी पहलुओं से लड़ने के लिए एकजुट होने की जरूरत है, हमें एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह, सहानुभूति से जान लेना होगा। अपने-आपको जानना भी कोई बहुत आसान काम नहीं है, लेकिन दूसरे को जानना तो सचमुच बहुत मुश्किल काम है। फिर भी, वैश्विक एकता के विचार को ऐसा रूप देने के लिए हमें अपनी स्वायत्तता का अपमान न करते हुए एक दूसरे को समझने में आपसी मदद करनी चाहिए। युद्ध, प्राकृतिक हादसों या निर्दय तानाशाही जैसी विशिष्ट स्थितियों में हमारा नजरिया एक रह सकता है, लेकिन इसका व्यवहारिक स्वरूप अलग-अलग हो सकता है। यहाँ हमें गाँधीजी की वह सलाह भी याद कर लेनी चाहिए जो उन्होंने 1936 में अमेरिका से आए ईसाई कर्माकर्ताओं के समूह को दी थी। यह सलाह बताती है कि गाँधीजी आधुनिक विज्ञान और तकनीक के अंध विरोधी नहीं थे, जैसा कि अनेक जमातों के लोग ऐसा बताने की कोशिश करते हैं। गाँधीजी का कहना है :

जब अमेरिकी लोग मेरे पास आकर पूछते हैं कि क्या वह सेवा कर सकते हैं तो मैं उनसे कहता हूँ कि अगर आप हमारे आगे अपना लाखों-करोड़ों ही दिखाते रहेंगे तो आप हमें भिखमंगा बना देंगे, और हमारा आत्मसम्मान समाप्त कर देंगे। लेकिन, एक मामले में मैं भिखारी बनने का भी बुरा नहीं मानूँगा। आप अपने इंजीनियरों और कृषि विशेषज्ञों को हमारे हवाले कर दें और उनसे हमारे कहे पर काम करने को कहें। वे हमारे पास स्वयंसेवक की तरह आएँ, मालिक और साहब की तरह नहीं।

इन बुनियादी प्रस्तावों, उनसे निकले विश्लेषण में उभरी चुनौतियों और संभावित खतरों के प्रति सावधान रहने की आवश्यकता पर आधारित टोस कार्रवाई के लिए ये कुछ सुझाव दिए जा रहे हैं :

1. 'लोकतंत्र और भूमंडलीकरण पर संवाद' का लंबा सिलसिला चलाने के लिए काफी हद तक टिकाऊ ढाँचों-नेटवर्कों को खड़ा करना उत्तर-दक्षिण संवाद को लोकतांत्रिक बनाने का काफी महत्वपूर्ण उपकरण हो सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सर्वहितवादी-मानवतावादी लोकतांत्रिक मोर्चा बनाने के इच्छुक और

प्रयासरत लोगों और समूहों के लिए नेटवर्क खड़ा करने की तत्काल जरूरत है। लोकतंत्र को व्यापक और गहरा बनाने के लिए जरूरी हस्तक्षेप का तरीका विकसित करने के लिए हमें विभिन्न समूहों, जत्थों, संस्थाओं, नेटवर्कों, आंदोलन वाले समूहों और राजनीतिक दलों के बीच चलाते रहना होगा।

2. हमें तत्काल कुछ रक्षात्मक कदम भी उठाने होंगे। अभी तक दुनिया को अपने चंगुल में लेने का प्रयास करने वाली शक्तियों की मार से अछूती चीजों को बचाने के लिए 'फ्रेंड्स ऑफ द अर्थ,' 'सर्ववाइवल इंटरनेशनल,' 'इंटरनेशनल रिवर्स नेटवर्क,' 'ग्रीनपीस' और ग्रीन पार्टियों जैसे संगठनों को इस पृथ्वी पर मौजूद सारी लोकतांत्रिक शक्तियों तक अपनी बात पहुँचानी चाहिए। ग्लोबल ग्रीन के हाल के सम्मेलन में मैंने ग्लोबल ग्रीन पार्टी में सुधार के रूप में एक प्रस्ताव पेश किया था। इस प्रस्ताव के पक्ष में 64 वोट पड़े और विपक्ष में 45। मेरी समझ में नहीं आया कि इस प्रस्ताव के पक्ष में दो तिहाई से थोड़े कम वोट क्यों आए जिसके चलते यह पास नहीं हो पाया। यह प्रस्ताव इस प्रकार था:

दक्षिण देशों की सभ्यताएँ हजारों वर्ष से ऐसी जीवन शैली चला रही हैं जिन्हें अब हम 'ग्रीन सिद्धांत' कहते हैं। और उस पर बारीकी से गौर करने पर पता चलेगा कि ऐसा वे तकनीकी पिछड़ेपन के चलते नहीं करती थीं। इस जीवन शैली में प्रकृति के संरक्षण और उनका चक्र निरंतर चलने देने की सोची-समझी नीति काम करती थी। लेकिन, भूमंडलीकरण का मौजूदा स्वरूप इन समुदायों और उनकी जीवन शैली को बड़ी तेजी से रौंदता जा रहा है। ऐसे में जरूरी है कि 'ग्लोबल डेमोक्रेटिक फ्रंट' दक्षिण की 'ग्रीन कम्युनिटीज़' को बचाने के लिए 'डिफेंस कमेटी' का गठन करें। अन्यथा कई हजारों वर्षों में जो चीजें विकसित हुई थी और जो परंपराएँ चल रही थीं, वे सभी अगले कुछ दशकों में पूरी तरह बर्बाद हो जाएंगी।

3. पूरी पृथ्वी नामक परिवार में जितने भी लोकतांत्रिक कार्य-व्यवहार चल रहे हैं, आंदोलन हो रहे हैं, सपने देखे जा रहे हैं उन सबकी पहचान करने, उनकी सूचनाओं का प्रसार करने के लिए अनुसंधान और मीडिया का स्वतंत्र नेटवर्क भी हमें खड़ा करना होगा। हमें सूचनाओं को जमा करके, विश्लेषित करने और फिर उन्हें वितरित करने का काम भी करना होगा—खसतौर से उन सभी लोगों के बीच जो अमेरिकी उपभोक्तावादी स्वर्ग की चकाचौंध के आगे कुछ नहीं देख

पाते। हमें संकल्प करना चाहिए कि हम पूरी दुनिया में ऐसे मीडिया सेंटर बनाएँगे और अंग्रेजी के अलावा जहाँ तक संभव होगा, स्थानीय भाषाओं में इन सूचनाओं को वितरित करेंगे।

4. इन सारे संवादों, संस्थाओं और नेटवर्कों के निर्माण से लोकतंत्र के विस्तार, गहराई और रक्षा के लिए एक विश्वव्यापी मोर्चा बनाना चाहिए। यह मोर्चा बौद्धिक सक्रियता और संगठन निर्माण के आधार पर खड़ा हो सकता है। संगठन बनाने का काम सिर्फ बौद्धिक सक्रियता से नहीं हो सकता। गाँधीजी के सिविल नाफरमानी के हथियार का प्रयोग करके ही वैचारिक ढाँचा और नेटवर्क खड़ा कर सकते हैं।

टिप्पणियाँ

1. स्वराज की अवधारणा और शब्द का इसी अर्थ में भारत में चलने वाले गांधी प्रेरित आंदोलनों द्वारा प्रयोग होता है।
2. इस भूमंडलीकरण का शैतानी चरित्र इसके इस केंद्रीय तत्त्व में परिलक्षित है। इसने मनुष्यजाति के लिए ऐसी स्थितियाँ बना दी हैं, जिसमें वह रोटी-कपड़ा जैसे व्यावहारिक मुद्दों व अपने आदर्शों और सपनों की बात को गंभीरता से उठा ही नहीं पाती। इतनी राजनीतिक आजादी और हर तरह के राजनीतिक दर्शनों के होते हुए भी भारतीय राजनीतिक दलों ने विश्व व्यापार संगठन से जुड़े मुद्दों पर ढंग से विचार ही नहीं किया (हिंदू, संपादकीय, 30 मई 2001)। यह मान लिया गया कि भूमंडलीकरण का कोई विकल्प नहीं है। गांधीजी ने जिसे 'आधुनिक उद्योगीकरण का शैतानी पहलू' करार दिया था, उसे अब भूमंडलीकरण के लिए सर्वानुमति के रूप में पेश किया जा रहा है। 'अमेरिकी उपभोक्ता के स्वर्ग' के रूप में यह शैतान काफी सारे लोगों और नेताओं का आदर्श बना हुआ है। यूरोप में अनुदारों से लेकर ग्रीन्स तक सभी भूमंडलीकरण के पीछे इस तरह पड़े हैं मानो 'अमेरिकी उपभोक्ता के स्वर्ग' द्वारा परमानन्द व स्वच्छंदता का सपना कोई हासिल हो सकने वाला लक्ष्य हो, दुनिया के बहुसंख्यकों के लिए कोई मृगमरीचिका नहीं।
3. भूमंडलीकरण के नाम पर दुनिया को एकध्रुवीय बनाने की इच्छा भी काम कर रही है। 19 नवंबर 1999 को 'इवेलुएशन एंड इंटरैक्शन ऑफ टेक्नॉलाजी, इकॉनॉमी, पॉलिटी एंड सोसाइटी' विषय पर हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन को संबोधित करते हुए भारत के राष्ट्रपति ने इस प्रवृत्ति के खिलाफ सही चेतावनी दी थी : भूमंडलीकरण की वर्तमान प्रवृत्ति बुनियादी पहचानों और समूहों की पहचान के खिलाफ है और अब तो राष्ट्रों को भी भूमंडलीकृत विश्व के लिए फराने जमाने

की चीज और इससे मेल न खाने वाली व्यवस्था बताया जा रहा है। मुझे नहीं लगता कि यह सही दिशा में की जा रही प्रगति है। मानव सभ्यता काफी कुछ राष्ट्र के रूप में हुए सामूहिक अनुभवों से जुड़ी है। ऐसे में अगर भूमंडलीकरण राष्ट्रवाद को पीछे धकेलने वाली चीज बन जाता है तो मनुष्य जाति द्वारा किया गया अधिकांश मूल्यवान अनुभव इस भूमंडलीकरण द्वारा यूँ ही पीछे छोड़ दिया जाएगा। इसलिए जरूरी है कि जब पूरी दुनिया एक विश्व की तरफ बढ़ रही है और हम निश्चित रूप से वैश्विक होते जा रहे हैं तब विभिन्न समुदायों, राष्ट्रों और समूहों द्वारा किए गए अनुभवों को संभाल कर रखा जाय और भूमंडलीकरण के नाम पर नष्ट न किया जाय। (राष्ट्रपति के.आर. नारायणन, 2002)

4. भारत में 'वसुधैव कुटुंबकम्' जमात के प्रमुख प्रोफेसर धीरुभाई शेट का मानना है कि मनुष्यजाति को उसकी भौतिक जरूरतों के हिसाब से ही परिभाषित करना उसका बहुत बड़ा अपमान है। उनके अंदर नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रुझान भी मौजूद रहते हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' के शुरूआती प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए प्रमुख भारतीय मानवशास्त्री प्रो. बी.के. राय बर्मन ने कहा है कि "मानवशास्त्र की मेरी समझ मुझे यह मानने को मजबूर करती है कि मानवीय प्रकृति बुनियादी रूप से सामाजिक है। और मैं ... चोम्स्की से सहमति रखता हूँ कि इसी प्रवृत्ति के चलते मनुष्य नैतिक संबंध बढ़ाता है, संवाद करता है, सांकेतिक संचार से अपनी बात बढ़ाता है ... इस जीवन मूल्य आधारित व्यवस्था का ही दूसरा नाम लोकतंत्रा है — यह अनवरत चलने वाले दुतरफा रिश्ते की प्रक्रिया है। जिम्मेदारी वाले लोकतंत्र के प्रति निष्ठा का मतलब किसी बनी-बनायी व्यवस्था को कबूल करना न होकर निरंतर चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया के प्रति निष्ठा है।

यह लेख विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) की ओर से लोक चिंतन ग्रंथमाला के तहत अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित एवं वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'भारत का भूमंडलीकरण में संकलित है।